वर्ष:46, अंक: 6 नवम्बर-दिसम्बर 2023

गगनांचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक

गगनांचल के आगामी अंकों की आवरण कथाओं के संभावित विषय

जनवरी-फ़रवरी, 2024

भारत-रूस सम्बन्ध के 70 वर्ष

रूस में भारतीय संस्कृति
भारत-रूस संबंध और हिन्दी की भूमिका
भारत-रूस सम्बन्धों का इतिहास
भारत-रूस में सांस्कृतिक आदान-प्रदान
भारत-रूस आर्थिक संबंधों की संभावनाएं
भारत और रूस में सामरिक संबंध
विविध सोवियत गणराज्यों के साथ भारत के सम्बन्ध

मार्च-अप्रैल, 2024

लोक साहित्य और विज्ञान

भारत में विज्ञान की लोकसुलभता
भारत की वाचिक परंपरा में विज्ञान
लोक साहित्य में स्वास्थ्य
लोक साहित्य में मौसम विज्ञान
लोक साहित्य में समाज विज्ञान
लोक साहित्य में काल-विज्ञान
लोक साहित्य में खगोल विज्ञान
लोक साहित्य में कृषि विज्ञान

ISSN : 0971-1430

वर्ष:46, अंक: 6 नवम्बर-दिसम्बर 2023

गगनाचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक

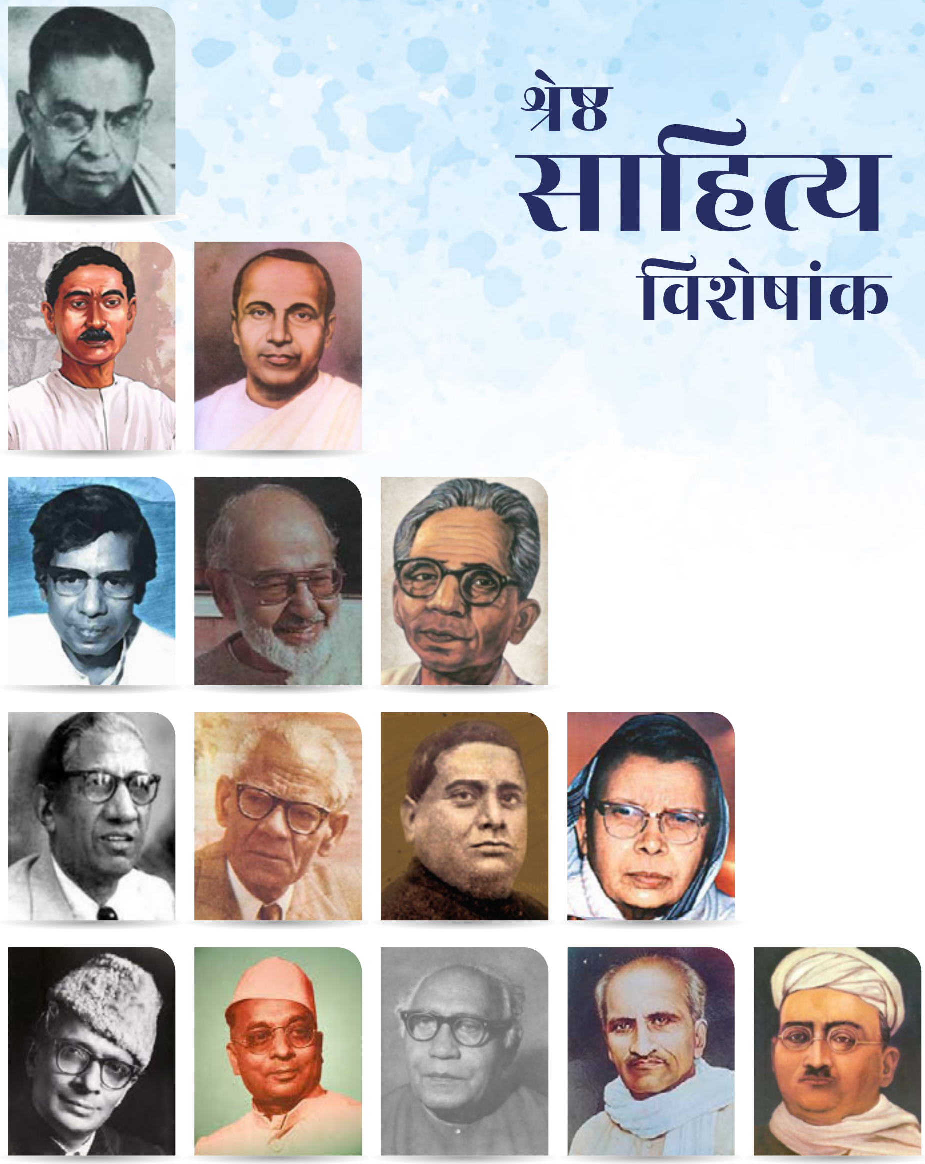

प्रकाशक

कुमार तुहिन
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

संपादक

रवि शंकर

प्रकाशन सामग्री भेजने का पता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002
ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध
http://www.iccr.gov.in/Publication/Gagananchal
पर क्लिक करें।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक :		₹ 500
	यू.एस	$ 100
त्रैवार्षिक :		₹ 1200
	यू.एस.	$ 250

उपर्युक्त सदस्यता शुल्क का अग्रिम भुगतान 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

मुद्रण : स्पेस 4 बिजनेस सोल्यूशन्स प्रा. लि. दिल्ली

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुमति दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद की नीति को प्रकट नहीं करते। प्रकाशित चित्रों की मौलिकता आदि तथ्यों की जिम्मेदारी संबंधित प्रेषकों की है, परिषद की नहीं।

अनुक्रम

गगनांचल
साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम
वर्ष:46, अंक: 6, नवम्बर-दिसम्बर 2023

प्रकाशकीय

3 **परिवार भाव को समर्पित श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक**
कुमार तुहिन

संपादकीय

4 **परिवार और राष्ट्र भाव को समर्पित साहित्य**
रवि शंकर

कहानियां

5 **मास्टर साहब :**आचार्य चतुरसेन शास्त्री
14 **बड़े घर की बेटी :** मुंशी प्रेमचंद
19 **पुरस्कार :** जयशंकर प्रसाद
24 **पंचलाईट :** फणीश्वरनाथ रेणु
27 **इन्दु की बेटी :** अज्ञेय
31 **खेल :** जैनेंद्र कुमार
34 **गुरूमंत्र :** सुदर्शन
40 **चित्र का शीर्षक :** यशपाल
44 **ताई :** विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'
49 **सोना हिरनी :** महादेवी वर्मा
53 **पहेली :** उपेंद्रनाथ अश्क
59 **वसीयत :** भगवतीचरण वर्मा
66 **अपनी डफली :** वैद्य गुरुदत्त
71 **शरणागत :** वृंदावनलाल वर्मा
74 **सुखमय जीवन :** चंद्रधर शर्मा गुलेरी
78 **कप्तान :** शिवरानी देवी

कविताएं

81 **किसको नमन करूँ मैं भारत?, कलम आज उनकी जय बोल, कलम या कि तलवार :** रामधारी सिंह दिनकर
82 **लोहे के पेड़ हरे होंगे :** रामधारी सिंह दिनकर
83 **नर हो न निराश करो, नहुष का पतन :** मैथिलीशरण गुप्त
84 **जो बीत गई सो बात गई :** हरिवंश राय बच्चन
85 **दीया जलाना कब मना है :** हरिवंश राय बच्चन
हम पंछी उन्मुक्त गगन के : शिवमंगल सिंह सुमन
86 **मेरा देश बड़ा गर्वीला :** गोपाल सिंह नेपाली
87 **भारति जय-विजय करे, मातृवंदना :** सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
किसको नमन करूँ मैं भारत: रामधारी सिंह दिनकर
88 **झांसी की रानी :** सुभद्रा कुमारी चौहान
90 **बसंती हवा हूँ :** केदारनाथ अग्रवाल
91 **पुष्प की अभिलाषा, प्यारे भारत देश :** माखनलाल चतुर्वेदी
92 **सतपुडा के घने जंगल :** भवानी प्रसाद मिश्र
93 **सूत्रधार, संस्कृति का प्रश्न, सांस्कृतिक हृदय :** सुमित्रानंदन पंत
94 **हिमालय और हम :** गोपाल सिंह नेपाली
95 **हिंदी है भारत की बोली :** गोपाल सिंह नेपाली

प्रकाशकीय

परिवार भाव को समर्पित श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक

पिछले दिनों हमने जी 20 सम्मेलन का आयोजन किया था और उसका घोष वाक्य रखा गया था वसुधैव कुटुम्बकम्। यह भारत का संदेश था पूरे विश्व को कि सम्पूर्ण विश्व उदार चरित का बने और एक कुटुम्ब की भांति रहे। वसुधैव कुटुम्बकम् तभी संभव है, जब हम सभी उदार चरित के बनें और एक दूसरे का आदर करें। भारत में हमने हजारों वर्षों से इसका अभ्यास किया है। उदार चरित का निर्माण और कुटुम्ब की भांति जीवन जीना। यही कारण है कि यह भाव हमारे लोक जीवन में भी समाहित हो गया था। भारत की कुटुम्ब परंपरा जिसे आज हम परिवार परंपरा कहते हैं, हमारे लोक अंतर्गुंफित हो गई थी। इस परंपरा के स्मरण के कारण ही महाराज युधिष्ठिर ने कहा था – वयं पञ्चाधिकम् शतम्। आपसी मतभेदों को भुलाकर एक होने की हमारी परंपरा रही है। कुटुम्ब के ऊपर हमने धर्म को वरीयता दी। परंतु यह भी सत्य है कि जहाँ धर्मानुचरण होगा, वहीं कुटुम्ब हो सकता है। अधर्माचरण कुटुम्ब या परिवार का नाश ही करता है।

परिवार की व्यवस्था या भाव हमारे अंदर इस प्रकार व्याप्त हुआ था कि वह हमारे साहित्य में भी भरपूर दिखता है। पिछले सौ वर्षों में जो विख्यात साहित्यकार हुए, उन्होंने जहाँ विविध विषयों पर कलम चलाई, वहीं उनके लेखन में भारत के परिवार भाव का भी भरपूर प्रकटीकरण हुआ। इस श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक में हमने इसका ध्यान रख कर ही कहानियों का चयन किया है। ऐसी कहानियां जो उदार चरित की बात करती हैं, जो परिवार भाव की श्रेष्ठता को स्थापित करती हैं, ऐसी कहानियां जो परिवार के लिए व्यक्तिगत भावों या स्वार्थों का त्याग करने की परंपरा को उजागर करती हैं, हमने इनका संकलन करने का प्रयास किया है।

आजकल व्यक्तिगत स्वार्थों की बहुत चर्चा होती है। परिवार के भाव को भी मध्ययुगीन यूरोपीय सिद्धांतों के अंधानुकरण में संकुचित अर्थों में पढ़ा और पढ़ाया जाने लगा है। सर्वत्र न्यूक्लियर यानी एकल परिवार की चर्चा होने लगी है और अकादमिक जगत में इसे मूल परिवार कहा जाने लगा है। परंतु यह तो संभवतः बिखरते समाज का प्रतिबिंब मात्र है। ऐसी विषम घड़ी में जहाँ हम एक ओर विश्व को वसुधैव कुटुम्बकम् का पाठ पढ़ा रहे हैं, हमें स्वयं भी आत्मचिंतन करने की आवश्यकता है कि हम स्वयं उस परिवार भाव को कितना आत्मसात कर पा रहे हैं। आज हमें यह सिंहावलोकन करने की आवश्यकता है कि संयुक्त से एकल और एकल से मूल परिवार और मूल परिवार से केवल स्त्री-पुरुष संबंधों की ओर बढ़ता समाज किस अशांति की ओर बढ़ रहा है।

इस विषम परिस्थिति में ये कहानियां हमें अपनी परंपरा का स्मरण कराएंगी। हमें परिवार भाव की उस सुगंध का स्मरण कराएंगी जो हम बचपन में अनुभव किया करते थे। परिवार भाव की वह परंपरा अगली पीढ़ी को सौंपना हमारा उत्तरदायित्व है। ये कहानियां हमें उस उत्तरदायित्व का भी स्मरण कराएंगीं और साथ ही समाज को उदार चरित का बनाने में भी प्रेरणास्रोत का काम करेंगी, इस विश्वास के साथ यह अंक आप सुधि पाठकों को समर्पित है।

कुमार तुहिन
महानिदेशक

संपादकीय

परिवार और राष्ट्र भाव को समर्पित साहित्य

कहते हैं – साहित्य समाज का दर्पण होता है। यह एक आंशिक सत्य कथन है। साहित्य वस्तुतः साहित्यकार के मस्तिष्क के समाज का दर्पण होता है। एक साहित्यकार समाज को जैसा देखता है अथवा देखना चाहता है, वैसे साहित्य का सृजन करता है। इसे हम उसकी दृष्टि और सोच कह सकते हैं। किसी भी व्यक्ति की दृष्टि और सोच निर्भर करती है उसके ज्ञान पर। इसलिए हम पाते हैं कि वाल्मीकि जब छंदोबद्ध रचना में सामर्थ्य का अनुभव करते हैं तो वे कुछ भी करुण काव्य रचना करने नहीं बैठते, वे ज्ञान अर्जित करते हैं। दृष्टि और सोच का विकास करते हैं, फिर रचना करते हैं। यही एक श्रेष्ठ साहित्यकार की पहचान है।

इस अंक की योजना बनाते समय गगनांचल के प्रभारी तथा भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के उपमहानिदेशक श्री अभय कुमार जी ने पिछली एक शताब्दी के ऐसे साहित्यिक रचनाओं पर विशेषांक निकालने का सुझाव दिया जो हमारे हृदय को छूते हों और साथ ही समाज की भारतीय अवधारणा को उकेरते हों। श्री अभय कुमार जी स्वयं एक कवि हृदय रखते हैं और साहित्य की उनको एक विलक्षण समझ है। उनके मार्गदर्शन और संयोजकत्व में यह श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक प्रस्तुत है।

इस अंक में श्रेष्ठ साहित्य विशेषांक को प्रस्तुत करते समय हमने यह ध्यान रखने का प्रयास किया है कि हम रचनाकारों की वैसी रचनाओं का चयन करें जो भारत की श्रेष्ठ परंपराओं को अभिव्यक्त करती हों, मानवीय मूल्यों की भारतीय समझ को उकेरती हों। भारत की परंपरा को एक श्लोक में बहुत ही अच्छे ढंग से विश्लेषित किया गया है – त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे सर्वं त्यजेत्।। भारतीय परंपरा त्याग की परंपरा है। यजुर्वेद के निर्देश तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा से लेकर आत्मार्थे सर्वं त्यजेत् की लोक परंपरा तक इस त्याग की परंपरा का परिपालन दिखता है।

गत वर्ष जब भारत ने जी 20 देशों के सम्मेलन का आतिथ्य तथा अध्यक्षता की तो उसमें रख गये घोष वाक्य में इस भारतीय परंपरा की ही अभिव्यक्ति थी – वसुधैव कुटुम्बकम्। वसुधा को कुटुम्ब मानना अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागे बिना संभव नहीं है। व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागने की प्रथम सीढ़ी परिवार है। इसलिए कहा गया – त्यजेदेकं कुलस्यार्थे। कुल या परिवार के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ दें। फिर इस परिवार की सीमा का विकास किया गया – पहले ग्राम तक, फिर जनपद तक और फिर आत्मा यानी समष्टि यानी संपूर्ण वसुधा या ब्रह्मांड तक। यहाँ संकलित कहानियों और कविताओं में हम उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति देखेंगे।

यह देखना और अधिक महत्त्वपूर्ण है कि त्याग की इस परंपरा के नायक पुरुष नहीं हैं, इसकी नायक हैं स्त्रियां। स्त्रियों से परिवार चलते हैं और स्त्रियों से ही संसार चलता है। मेरी पढ़ी गई अब तक की सबसे छोटी कविता में कहा है।

परिवार चलते हैं स्त्रियों से और इसलिए समाज और राष्ट्र भी चलते हैं स्त्रियों से। स्त्रियां ही धुरी हैं। इसलिए उन्हें त्याग की मूर्ति कहा गया। माँ को प्रथम देव माना गया – मातृदेवो भव। यहाँ प्रस्तुत कहानियां स्त्रियों की इस उदात्त परंपरा की गाथा सुनाती हैं। चाहे वह प्रेमचंद की कहानी बड़े घर की बेटी हो या फिर उनकी धर्मपत्नी शिवरानी देवी की कहानी कप्तान। दोनों ही कहानियां स्त्रियों के त्याग की कहानी कहती हैं। एक का त्याग परिवार के लिए है, दूसरे का राष्ट्र के लिए।

ताई अपनी संतानों के न होने पर भी मातृत्व के भाव की उभार को अभिव्यक्ति करती है तो एक स्त्री का माँ बनने में सृजन का सौंदर्य है, यह चित्र का शीर्षक कहानी स्पष्ट करती है। सृजन करना भी व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग ही है। वसीयत कहानी बताती है कि परिवार में तमाम मतभेदों को स्थान मिल सकता है और सभी मतभेदों के बाद भी हम स्नेहपूर्ण न्याय कर सकते हैं। अपनी डफली परिवार को सामाजिक सुरक्षा के साधन के रूप में चित्रित करती है, जिसकी चर्चा और यूरोपीय विद्वत जगत में सोशल कैपिटल के नाम से हो रही है तो इंदु की बेटी और पहेली जैसी कहानियां स्त्री के प्रति भारतीय चिंतन और चित्रण की सार्थकता और पाश्चात्य दर्शन की निरर्थकता को उकेरती हैं।

हम इन कहानियों को और भी कई दृष्टि से देख सकते हैं। यह निर्भर करेगा हमारी अंतर्दृष्टि और सोच पर। हमारी अंतर्दृष्टि और सोच निर्भर करेगी हमारे ज्ञान और उसके आधारों पर। हम इन कहानियों और कविताओं से अपने ज्ञान, अंतर्दृष्टि और सोच तीनों का ही विस्तार कर सकें, यही इस विशेषांक का अभिप्राय है।

रविशंकर

रवि शंकर

मोबाइल : +91–8076624400

ई–मेल : editor-iccr@govcontractor.in

मास्टर साहब

– आचार्य चतुरसेन शास्त्री

भामा ने हाथ बढाकर पति के चरण छुए। उसने रोते-रोते कहा - मुझे साडी नहीं, गहना नहीं, सुख नहीं, सिर्फ तुम्हारी शुभदृष्टि चाहिए। नारी-जीवन का तथ्य मैं समझ गई हूं; किन्तु अपना नारीत्व खोकर। वह घर की सम्राज्ञी है, और उसे खूब सावधानी से अपने घर को चारों ओर से बन्द करके अपने साम्राज्य का स्वच्छन्द उपभोग करना चाहिए, जिससे बाहर की वायु उसमें प्रविष्ट न हो, फिर वह साम्राज्य चाहे भी जैसा-लघु, तुच्छ, विपन्न, असहाय क्यों न हो। मास्टर साहब ने कहा - प्रभा की मां, तुम तो मुझसे भी ज्यादा पण्डिता हो गईं। कैसी-कैसी बातें सीख लीं तुमने प्रभा की मां!

एक कर्कशा नारी के हृदय-परिवर्तन की मार्मिक कहानी।

भामा भरी बैठी थी। मास्टर साहब ने ज्यों ही घर में कदम रखा, उसने विषदृष्टि से पति को देखकर तीखे स्वर में कहा - यह अब तुम्हारे आने का समय हुआ है? इतना कह दिया था कि आज मेरा जन्मदिन है, चार मिलनेवालियां आएंगी, बहुत-कुछ बन्दोबस्त करना है, जरा जल्दी आना। सो, उल्टे आज शाम ही कर ली।

'पर लाचारी थी प्रभा की मां, देर हो ही गई।'

'कैसे हो गई? मैं कहती हूं, तुम मुझसे इतना जलते क्यों हो? इस तरह मन में आंठ-गांठ रखने से फायदा? साफ क्यों नहीं कह देते कि तुम्हें मैं फूटी आंखों भी नहीं सुहाती?'

'यह बात नहीं है प्रभा की मां, तनखाह मिलने में देर हो गई। एक तो आज इन्स्पेक्टर स्कूल में आ गए, दूसरे आज फीस का हिसाब चुकाना था। तीसरे कुछ आफिस का काम भी हेडमास्टर साहब ने बता दिया। करना पडा। फिर आज तनखाह मिलने का दिन नहीं था - कहने-सुनने से हेडमास्टर ने बन्दोबस्त किया।'

'सो उन्होंने बडा अहसान किया। बात करनी भी तुमसे आफत है। मैं पूछती हूं, देर क्यों कर दी आप लगे आल्हा गाने। देखूं रुपये कहां हैं।'

मास्टर साहब ने कोट अभी-अभी खूटी पर टांगा ही था, उसकी जेब से पर्स निकालकर आंगन में उलट दिया। दस-दस रुपये के चार नोट जमीन पर फैल गए। उन्हें एक-एक गिनकर भामा ने नाक-भौं चढाकर कहा-चालीस ही हैं, बस?

'चालीस ही पाता हूं, ज्यादा कहां से मिलते?'

'अब इन चालीस में क्या करूं? ओढूँ या बिछाऊं? कहती हूं, छोड दो इस मास्टरी की नौकरी को, छदाम की भी तो ऊपर की आमदनी नहीं है! तुम्हारे ही मिलनेवाले तो हैं वे बाबू दाताराम, रेल में बाबू हो गए हैं। हर वक्त घर भरा-पूरा रहता है। घी में घी, चीनी में चीनी, कपडा-लत्ता, और दफ्तर के दस कुली-चपरासी हाजिरी भुगताते हैं वह जुदा। वे क्या तुमसे ज्यादा पढे हैं? क्यों नहीं रेल-बाबू हो जाते?'

'वे सब तो गोदाम से माल चुराकर लाते हैं प्रभा की मां! मुझसे तो चोरी हो नहीं सकती। तनखाह जो मिलती है, उसी में गुजर-बसर करना होगा।'

'करना होगा, तुमने तो कह दिया। पर इस महंगाई के जमाने में कैसे?'

'इससे भी कम में गुजर करते हैं लोग, प्रभा की मां!'

'वे होंगे कमीन, नीच। मैं ऐसे छोटे घर की बेटी नहीं हूं।'

'पर अपनी औकात के मुताविक ही तो सबको अपनी गुजर-बसर करनी चाहिए। इसमें छोटे-बडे घर की क्या बात है? अमीर आदमी ही बडे आदमी नहीं होते प्रभा की मां!'

'ना, बडे आदमी तो तुम हो, जो अपनी जोरू

> हमें लड़ना होगा, हमें संघर्ष करना होगा। हमें पुरुषों की बराबरी की ही होकर जीना होगा। इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए हमने यह आजाद महिला-संघ खोला है। तुम्हें चाहिए कि तुम इसमें सम्मिलित हो जाओ। इसमें हम न केवल स्वतन्त्रता की-पाठ पढाते हैं, बल्कि स्त्रियों को स्वावलम्बी रहने के योग्य भी बनाते हैं। हमारा एक स्कूल भी है, जिसमें सिलाई, कसीदा और भांति-भांति की दस्तकारी सिखाई जाती है। गायन-नृत्य के सीखने का भी प्रबन्ध है। हम जीवन चाहती हैं, सो हमारे संघ में तुम्हें भरपूर जीवन मिलेगा।

को रोटी-कपडा भी नहीं जुटा सकते। फिर तुम्हें ऐसी ही किसी कहारिन-महरिन से ब्याह करना चाहिए था। तुम्हारे घर का धन्धा भी करती, इधर-उधर चौका-वरतन करके कुछ कमा भी लाती।'

मास्टर साहब चुप हो गए। वे पत्नी से विवाद करना नहीं चाहते थे। कुछ ठहरकर उन्होंने कहा - जाने दो प्रभा की मां, आज झगडा मत करो। वे थकित भाव से उठे, अपने हाथ से एक गिलास पानी उंडेला और पीकर चुपचाप कोट पहनने लगे। वे जानते थे कि आज अब चाय नहीं मिलेगी। उन्हें ट्यूशन पर जाना था।

भामा ने कहा - जल्दी आना, और ट्यूशन के रुपये भी लेते आना।

मास्टरजी ने विवाद नहीं बढाया। उन्होंने धीरे से कहा-अच्छा। और घर से बाहर हो गए।

बहुत रात बीते जब वे घर लौटे तो घर में खूब चुहल हो रही थी। भामा की सखी-सहेलियां सजी-धजी गा-बजा रही थीं। अभी उनका खाना-पीना नहीं हुआ था। भामा ने बहुत-सा सामान बाजार से मंगा लिया था। पूडियां तली जा रही थीं और घी की सौंधी महक घर में फैल रही थी

पति के लौट आने पर भामा ने ध्यान नहीं दिया। वह अपनी सहेलियों की आवभगत में लगी रही। मास्टर साहब बहुत देर तक अपने कमरे में पलंग पर लेटे भामा के आने और भोजन कराने की प्रतीक्षा करते रहे, और न जाने कब सो गए।

'रात को भूखे ही सो रहे तुम, खाना नहीं खाया?'

'कहां, तुम काम में लगी थीं, मुझे पडते ही नींद आई तो फिर आंख ही नहीं खुली।'

'मैं तो पहले ही जानती थी कि बिना इस दासी के लाए तुम खा नहीं सकते, रोज ही तो चाकरी बजाती हूं; एक दिन मैं तनिक अपनी मिलनेवालियों में फंस गई, सो रूठकर भूखे ही सो रहे। सो एक बार नहीं, सौ बार सो रहो, यहां किसी की धौंस नहीं सहनेवाले हैं।'

'लेकिन प्रभा की मां, इसमें धौंस की क्या बात है? मुझे नींद आ ही गई।'

'आ गई तो अच्छा हुआ, अब महीने के खर्च का क्या होगा?'

'ट्यूशन ही के बीस रुपये जेब में पडे हैं, उन्हीं में काम चलाना होगा।'

'ट्यूशन के बीस रुपये? वे तो रात काम में आ गए। मैंने ले लिए थे।'

'वे भी खर्च कर दिए?'

'बडा कसूर किया, अब फांसी चढा दो।'

'नहीं, नहीं, प्रभा की मां, मेरा खयाल था चालीस रुपये में तुम काम चला लोगी, बीस बच रहेंगे। इनसे दब-भींचकर महीना कट जाएगा।'

'यह तो रोज का रोना है। तकदीर की बात है, यह घर मेरी ही फूटी तकदीर में लिखा था। पर क्या किया जाए, अपनी लाज तो ढकनी ही पडती है। लाख भूखे-नंगे हों, परायों के सामने तो नहीं रह सकते। वे सब बडे घर की बहू-बेटियां थीं, कोई खटीक-चमारिन तो थी ही नहीं। फिर साठ-पचास रुपये की औकात ही क्या है?'

मास्टर साहब चिन्ता से सिर खुजाने लगे। उन्हें कोई जवाब नहीं सूझा। महीने का खर्च चलेगा कैसे, यही चिन्ता उन्हें सता रही थी। अभी दूधवाला आएगा, धोबी आएगा। वे इस माह में जूता पहनना चाहते थे - बिलकुल काम लायक न रह गया था। परन्तु अब जूता तो एक ओर रहा, और आवश्यक खर्च की ही चिन्ता सवार हो गई।

पति को चुप देखकर भामा झटका देकर उठी। उसने कहा - अब इस बार तो कसूर हो गया भई, पर अब किसी को नहीं बुलाऊंगी। इस अभागे घर में तो पेट के झोले को भर लिया जाए, तो ही बहुत है।

उसने रात का बासी भोजन लाकर पति के सामने रख दिया। मास्टर साहब चुपचाप खाकर स्कूल को चले गए।

भामा ने कहा - बिना कहे तो रहा नहीं जाता, अब तेली, तम्बोली, दूधवाला आकर मेरी जान खाएंगे। क्या कहूं उनसे, बोलो तो? तुम्हें तो अपनी इज्जत का खयाल ही नहीं, पर मुझसे तो इन नीचों के तकाजे नहीं सहे जाते।

मास्टरजी ने धीमे स्वर में नीची नजर करके कहा - करूंगा प्रबन्ध, जाता हूं।

......

'लेकिन, क्यों सहती हो बहिन, इन पुरुषों की प्रभुता का जुआ हमें अपने कंधे पर से उतार फेंकना होगा, हमें स्वतन्त्र होना होगा, हम भी मनुष्य हैं - पुरुषों ही की भांति। कोई कारण नहीं जो हम उनके लिए घर-गिरस्थी करें, उनके लिए बच्चे पैदा करें और जीवन-भर उनकी गुलामी करती हुई मर जाएं।'

भामा की आंखें चमकने लगीं। उसने कहा-यही तो मैं भी सोचती हूं श्रीमतीजी! आप ही कहिए, चालीस रुपये की नौकरी, फिर दूध-धोए भी बने रहना चाहते हैं। आप ही कहिए, दुनिया के एक कोने में एक से एक बढ कर

भोग हैं, क्या मनुष्य का दिल उन्हें भोगना न चाहेगा?

'क्यों नहीं, फिर वे भोग बने किसके लिए हैं? मनुष्य ही तो उन्हें भोगने का अधिकार रखता है।'

'यही तो, पर पुरुष ही उन्हें भोग पाते हैं। वे ही शायद मनुष्य हैं, हम स्त्रियां जैसे मनुष्यता से हीन हैं।'

'हमें लडना होगा, हमें संघर्ष करना होगा। हमें पुरुषों की बराबरी की ही होकर जीना होगा। इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए हमने यह आजाद महिला-संघ खोला है। तुम्हें चाहिए कि तुम इसमें सम्मिलित हो जाओ। इसमें हम न केवल स्वतन्त्रता का पाठ पढाते हैं, बल्कि स्त्रियों को स्वावलम्बी रहने के योग्य भी बनाते हैं। हमारा एक स्कूल भी है, जिसमें सिलाई, कसीदा और भांति-भांति की दस्तकारी सिखाई जाती है। गायन-नृत्य के सीखने का भी प्रबन्ध है। हम जीवन चाहती हैं, सो हमारे संघ में तुम्हें भरपूर जीवन मिलेगा।'

'तो मैं श्रीमतीजी, आपके संघ और स्कूल दोनों ही की सदस्य होती हूं। जब वे स्कूल चले जाते हैं, मैं दिन-भर घर में पडी उनके आने का इन्तजार करती रहती हूं। सो भी इस अवस्था में नहीं कि वे मेरे लिए कुछ उपहार लेकर आते होंगे या मेरे पास बैठकर दो बोल हंस-बोल लेंगे। ईश्वर जाने कैसी ठण्डी तबियत पाई है। चुपचाप आते हैं, थके हुए, परेशान-से, और पूरे सुस्ता भी नहीं पाते कि ट्यूशन। प्रभा है, उनकी लडकी, उसीसे रात को हंसते-बोलते हैं। कहिए, यह कोई जीवन है? नरक है नरक; सिर्फ मैं हूं जो यह सब सहती हूं।'

'मत सहो, मत सहो, बहिन, अपने आत्मसम्मान और स्वाधीनता की रक्षा करो।'

'यही करूंगी श्रीमतीजी, यही करूंगी।'

'तो कल आना। हमारा वार्षिकोत्सव है, बहुत-सी बडी-बडी देवियां पाएंगी उनके भाषण होंगे, भजन होंगे, नृत्य होगा, गायन होगा, नाटक होगा, प्रस्ताव होंगे और फिर प्रीतिभोज होगा। कहो, आयोगी न?'

'अवश्य पाऊंगी, अब जाती हूं।'

'अब जाओ फिर। तुम्हें देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। याद रखो, तुम्हारी जैसी ही देवियों के पैरों पडी परतन्त्रता की बेडियां काटने के लिए हमने यह उद्योग किया है।'

'आप धन्य हैं श्रीमतीजी, नमस्ते।'

'नमस्ते।'

भामा ने बडी उत्सुकता से वह रात काटी और वह अपनी समझ में पूरी तैयारी के साथ सज-धजकर जब उस जलसे में गई तो हद दरजे चमत्कृत और लज्जित होकर लौटी। चमत्कृत हुई वहां के वातावरण से, व्याख्यानों से, कविताओं और नृत्य से, मनोरंजन-प्रकारों से। उसने देखा, समझा - अहा, यही तो सच्चा जीवन है, कैसा आनन्द है, कैसा उल्लास है, कैसा विनोद है! परन्तु जब उसने अपनी हीनावस्था का वहां आनेवाली प्रत्येक महिला से मुकाबला किया तो लज्जित हुई। उसने दरिद्र, निरीह पति से लेकर घर की प्रत्येक वस्तु को अत्यन्त नगण्य, अत्यन्त क्षुद्र, अत्यन्त दयनीय समझा, और वह अपने ही जीवन के प्रति एक असहनीय विद्रोह और असन्तोष भावना लिए बहुत रात गए घर लौटी।

मास्टर साहब उसकी प्रतीक्षा में जागे बैठे थे। प्रभा पिता की कहानियां सुनते-सुनते थककर सो गई थी। भोजन तैयार कर, आप खा और प्रभा को खिला, पत्नी के लिए उन्होंने रख छोडा था।

भामा ने आते ही एक तिरस्कार-भरी दृष्टि पति और उस शयनागार पर डाली, जो उसके कुछ क्षण पूर्व देखे हुए दृश्यों से चकाचौंध हो गई थी। उसे सब-कुछ बडा ही अशुभ, असहनीय प्रतीत हुआ। वह बिना ही भोजन किए, बिना ही पति से एक शब्द बोले, बिना ही सोती हुई फूल-सी प्रभा पर एक दृष्टि डाले चुपचाप

जाकर सो गई।

मास्टर साहब ने कहा - और खाना?

'नहीं खाऊंगी।'

'कहां खाया?'

'खा लिया।'

और प्रश्न नहीं किया। मास्टर साहब भी सो गए।

भामा प्रायः नित्य ही महिला-संघ में जाने लगी। उन्मुक्त वायु में स्वच्छन्द सांस लेने लगी; पढी-लिखी, उन्नतिशील कहानेवाली लेडियों-महिलाओं के संपर्क में आई; जितना पढ सकती थी, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं को पढने लगी। उसने सुना - उन महामहिम महिलाओं में, जो सभाओं और जलसों में ठाटदार साडी धारण करके सभानेत्रियों के पासन को सुशोभित करती हैं, चारों ओर स्त्री-पुरुष जिनका आदर करते है, जिन्हें प्रणाम करते, हंस-हंसकर झुककर जिनका सम्मान करते हैं। उनमें कोई घर को त्याग चुकी है, कोई पति को त्याग चुकी है; उनका गृहस्थ-जीवन नष्ट हो चुका है, वे स्वच्छन्द हैं, उन्मुक्त हैं, वे बाधाहीन हैं, वे कुछ घंटों ही के लिए नहीं, प्रत्युत महीनों तक चाहे जहां रह और चाहे जहां जा सकती हैं, उन्हें कोई रोकनेवाला, उनकी इच्छा में बाधा डालनेवाला नहीं है।

उसे लगा, यही तो स्त्री का सच्चा जीवन है। वे गुलामी की बेडियों को तोड चुकी हैं, वे नारियां धन्य हैं।

एक दिन सभा में जब सभानेत्री महोदया, तालियों की प्रचण्ड गडगडाहट में ऊंची कुर्सी पर बैठीं (उपस्थित प्रमुख पुरुषों और महिलाओं ने उन्हें सादर मोटर से उतारकर फूलमालाओं से लाद दिया था), तो भामा के पास बैठी एक महिला ने मुंह विचकाकर कहा - लानत है इसपर; यहां ये ठाट हैं, वहां खसम ने पीटकर घर से निकाल दिया है। अब मुकदमेबाजी चल रही है। दूसरी देवी ने कुतूहल से पूछा - क्यों? ऐसा क्यों है?

'कौन अपनी औरत का रात-दिन पराये मर्दों के साथ घूमते रहना, हंस-हंसकर बातें करना पसन्द करेगा भला? घर-गिरस्ती देखना नहीं, देशोद्धार करना या महिलोद्धार करना। और घर-बाहर आवारा फिरना।'

'तो फिर बीबी, बिना त्याग किए यों देश-सेवा हो भी नहीं सकती।'

'खाक देश-सेवा। जो अपने पति और बाल-बच्चों की सेवा नहीं कर सकती, अपनी घर-गिरस्ती को नहीं संभाल सकती, वह देश-सेवा क्या करेगी? देश के शांत जीवन में अशांति की आग अवश्य लगाएगी।'

भामा को ये बातें चुभ रही थीं। उससे न रहा गया, उसने तीखी होकर कहा - क्या चकचक लगाए हो बहिन, घर-गिरस्ती जाकर संभालो न, यहां वक्त बरबाद करने क्यों आई हो?

महिला चुप तो हो गई पर उसने तिरस्कार और अवज्ञा की दृष्टि से एक बार भामा को और एक बार सभानेत्री को देखा।

भामा सिर्फ स्त्रियों ही के जलसों में नहीं आती-जाती थी, वह उन जलसों में भी भाग लेने लगी, जिनमें पुरुष भी होते। बहुधा वह स्वयं-सेविका बनती, और ऐसे कार्यों में तत्परता दिखाकर वाहवाही लूटती। उसकी लगन, तत्परता, स्त्री-स्वातन्त्र्य की तीव्र भावना के कारण इस जाग्रत स्त्री-जगत् में उसका परिचय काफी बढ गया। वह अधिक विख्यात हो गई। लीडर-स्त्रियों ने उसे अपने काम की समझा, उसका आदर बढा। भामा इससे और भी प्रभावित होकर इस सार्वजनिक जीवन में आगे बढती गई और अब उसकी वह क्षुद्र-दरिद्र गिरस्ती, छोटी-सी पुत्री और समाज में अतिसाधारण-सा अध्यापक उसका पति, सब कुछ हेय हो गया।

वह बहुत कम घर पाती। बहुधा मास्टर साहब को खाना स्वयं बनाना पडता, चाय बनाना तो उनका नित्य-कर्म हो गया। पुत्री प्रभा की सार-संभार भी उन्हें करनी पडने लगी। वे स्कूल जाएं, ट्यूशन करें, बच्ची को संभालें, भोजन बनाएं और घर को भी संभालें। यह सब नित्य-नित्य सम्भव नहीं रहा। घर में अव्यवस्था और अभाव बढ गया। भामा और भी तीखी और निडर हो गई। वह पति पर इतना भार डालकर, उनकी यत्किचिंत् भी सहायता न करके, उनकी सारी सम्पत्ति को अधिकृत करके भी निरन्तर उनसे क्रुद्ध और असंतुष्ट रहने लगी।

पति की क्षुद्र आय का अब सबसे बडा भाग उसकी साडियों में, चन्दों में, तांगे के भाडे में और मित्र-मित्राणियों के चाय-पानी में खर्च होने लगा। मास्टर साहब को मित्रों से ऋण लेना पडा। ऋण मास-मास बढने लगा और फिर भी खर्च की व्यवस्था बनी नहीं। दूध आना बन्द हो गया, घी की मात्रा कम हो गई, साग-सब्जी में किफायत होने लगी। मास्टरजी के कपडे फट गए, उन्होंने और एक ट्यूशन कर ली। वे रात-दिन पिसने लगे। छोटी-सी बच्ची चुपचाप अकेली घर में बैठी पिता और माता के आगमन की प्रतीक्षा करने की अभ्यस्त हो गई। बहुधा वह वहुत रात तक, सन्नाटे के पालम में, अकेली घर में डरी हुई, सहमी हुई, बैठी रहती। कभी रोती, कभी रोती-रोती सो जाती; बहुधा भूखी-प्यासी।

एक दिन जब मास्टर साहब स्कूल की तैयारी में थे, भामा ने कहा - सुनते हो, मुझे एक नई खद्दर की साडी चाहिए, और कुछ रुपये। महिला-संघ का जलसा है, मैंने स्वयंसेविकाओं में नाम लिखाया है।

'किन्तु रुपये तो अभी नहीं हैं, साडी भी आना मुश्किल है, अगले महीने में।'

भामा गरज पडी - अगले महीने में या अगले साल में। आखिर क्या मैं भिखारिन हूं? मैं भी इस घर की मालकिन हूं। ब्याही आई हूं, बांदी नहीं।

'सो तो ठीक है प्रभा की मां, परन्तु रुपया तो नहीं है न। इधर बहुत-सा कर्जा भी तो हो गया है, तुम तो जानती ही हो।'

'मुझे तुम्हारे कर्मों से क्या मतलब? कमाना मर्दों का काम है या औरतों का? कहो तो मैं कमाई करूं जाकर?'

'नहीं, नहीं, यह मेरा मतलब नहीं। पर अपनी जितनी आमदनी है उतनी...।'

'भाड में जाए तुम्हारी आमदनी। मुझे साडी चाहिए, और दस रुपये।'

'तो बन्दोवस्त करूंगा।' मास्टर साहब और नहीं बोले, छाता संभालकर चुपचाप चल दिए।

जलसे में भामा एक सप्ताह व्यस्त रही। वह घर न आ सकी। आठ दिन बाद जब वह आई तो उसके रंग-ढंग ही बदले हुए थे। उसमें लीडरी की बू आ गई थी। अब वह एक बच्ची की मां, एक पति की पत्नी, एक घर की गृहिणी नहीं, एक आधुनिकतम महिला-उद्धारक स्त्री थी। पुरुषों से, गृहस्थी की रूढियों से, दरिद्र जीवन से सम्पूर्ण विद्रोह करनेवाली। वह बात-बात पर पति से झगडा करने लगी, प्रभा को अकारण ही पीटने लगी। तनिक-सी भी बात मन के विपरीत होने पर तिनककर घर से चली जाती और दो-दो दिन गायब रहती। उसकी बहुत-सी सखी-सहेलियां हो गई थीं, बहुत-से अड्डे बन गए थे, जिनमें स्कूलों की मास्टरनियां, अध्यापिकाएं, विधवाएं, प्रौढाएं और स्वतन्त्र जीवन का रस लेनेवाली अन्य अनेक प्रकार की स्त्रियां थीं। उनमें से प्रायः सबों ने स्त्रियों के उद्धार का व्रत ले रखा था।

इन सब बातों से अन्ततः एक दिन मास्टर

साहब का समुद्र-सा गम्भीर हृदय भी विचलित हो गया। पत्नी के प्रति उत्पन्न रोष को वे यत्न करके भी न दबा सके। प्रभा दो दिन से ज्वर में बेहोश थी, और भामा दो दिन से गायब थी - किसी कार्यवश नहीं, क्रुद्ध होकर। प्रभा ने अम्मा-अम्मा की रट लगा रखी थी। उसके होंठ सूख रहे थे, बदन तप रहा था। मास्टर साहब स्कूल नहीं जा सके थे। ट्यूशन भी नहीं, खाना भी नहीं, वे पुत्री के पास बैठे पानी से उसके होंठों को तर करते, 'अम्मा आ रही हैं' कहकर धीरज देते, फिर एक गहरी सांस के साथ हृदय के दुःख को बाहर फेंकते और अपने दांतों से होंठ दबा लेते और भामा के प्रति उत्पन्न क्रोध को दबाने की चेष्टा करते।

भामा आई तो उसने न रुग्ण पुत्री की ओर देखा, न भूख-प्यास से जर्जर चिंतित पति को। वह भरी हुई जाकर अपनी कोठरी में द्वार बन्द करके पड गई।

अन्त में मास्टर साहब ने कोठरी के द्वार पर जाकर कहा - प्रभा को बहुत तेज ज्वर है, प्रभा की मां, तनिक आओ तो।

'मैं क्या वैद्य-डाक्टर हूं?' भीतर से भामा ने कहा।

'नहीं, वह तुम्हें बहुत याद कर रही है, तनिक उसके पास बैठो।'

'तुम बैठे तो हो।'

'वह तुम्हें पुकार रही है, आओ।'

'मैं थक रही हूं, मेरी जान मत खाओ।'

'कैसी बात कहती हो प्रभा की मां, वह तुम्हारी बेटी है।'

'तुम्हारी भी तो है।'

'बच्चों की देखभाल तो मां ही कर सकती है, प्रभा की मां?'

'पर बच्चे मां के नहीं, बाप के हैं। उन्हें ही उनकी संभाल करनी चाहिए।'

'पर तुम जरा बच्ची के पास तो जानो।'

'भाड में जाए बच्ची, मुझे जरा सोने दो, मेरी तबियत ठीक नहीं है।'

'यह तुम क्या कह रही हो प्रभा की मां!'

'तुम उसे नहीं समझ सकोगे। स्कूल की किताबों में वह बात नहीं लिखी।'

मास्टर साहब के शरीर का सम्पूर्ण रक्त उनके मस्तिष्क में भर गया। जीवन में पहली बार असह्य क्रोध की लहर पाई। उन्होंने आपे से बाहर होकर किन्तु धीमे स्वर में कहा - तुम ऐसी हृदयहीन हो, प्रभा की मां! उन्होंने थूक सटका और चले गए।

सुबह बडी देर तक भी जब भामा अपनी कोठरी से बाहर नहीं आई तब मास्टर साहब, रात-भर की जागी हुई, फूली हुई, सुर्ख आंखों की कोर में वेदना और उदासी भरे, प्रभात की बेला में झपकी लेती, क्लांत बच्ची को चुपके से छोडकर फिर पत्नी की कोठरी में गए। रात के गुस्से को भूलकर उन्होंने पुकारा - प्रभा की मां, उठो तो तनिक, दिन बहुत चढ गया है। पर दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा, कोठरी का द्वार खुला है और भामा वहां नहीं है, कोठरी सूनी है, बिछौना खाली है।

भीतर जाकर देखा, एक पुर्जा लिखा रखा था। उसमें लिखा था: 'मेरी आंखें खुल गई हैं, मैं अपने अधिकार को जान गई हूं। मैं भी आदमी हूं, जैसे तुम मर्द लोग हो, और मुझे भी मर्दों ही की भांति स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। मैं तुम्हारे लिए गृहस्थी की गुलामी करने से इन्कार करती हूं। तुम्हारे लिए बच्चे पैदा करने, उनके मल-मूत्र उठाने, तुम्हारे सामने हाथ पसारने से इन्कार करती हूं। मैं जाती हूं और कहे जाती हूं कि तुम्हें मुझे बलपूर्वक अपने दुर्भाग्य से बांध रखने का कोई अधिकार नहीं। तुम्हारी चालीस रुपये की हैसियत में मैं अपने को भागीदार नहीं बना सकती।'

मास्टर साहब की आंखें फट गईं, मुंह फैला रह गया। वे वहीं चारपाई पर बैठकर दो-तीन बार उस पत्र को पढ गए। और सब बातों को भूलकर वे यही सोचने लगे - आखिर भामा यह सब लिख कैसे सकी? बिलकुल ग्रामोफोन की सी भाषा है, व्याख्यान के नपे-तुले शब्द, साफ-तीखी युक्ति, सुगठित भाषा।

> भामा प्रायः नित्य ही महिला-संघ में जाने लगी। उन्मुक्त वायु में स्वच्छन्द सांस लेने लगी; पढी-लिखी, उन्नतिशील कहानेवाली लेडियों-महिलाओं के संपर्क में आई; जितना पढ सकती थी, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं को पढने लगी। उसने सुना—उन महामहिम महिलाओं में, जो सभाओं और जलसों में ठाटदार साडी धारण करके सभानेत्रियों के पासन को सुशोभित करती हैं, चारों ओर स्त्री-पुरुष जिनका आदर करते है, जिन्हें प्रणाम करते, हंस-हंसकर झुककर जिनका सम्मान करते हैं, उनमें कोई घर को त्याग चुकी है, कोई पति को त्याग चुकी है; उनका गृहस्थ-जीवन नष्ट हो चुका है, वे स्वच्छन्द हैं, उन्मुक्त हैं, वे बाधाहीन हैं, वे कुछ घंटों ही के लिए नहीं, प्रत्युत महीनों तक चाहे जहां रह और चाहे जहां जा सकती हैं, उन्हें कोई रोकनेवाला, उनकी इच्छा में बाधा डालनेवाला नहीं है। उसे लगा, यही तो स्त्री का सच्चा जीवन है। वे गुलामी की बेडियां को तोड चुकी हैं, वे नारियां धन्य हैं।

ऐसा तो वे भी नहीं लिख सकते। भामा यह सब कहां से सीख गई? क्या उसने सत्य ही उन सब गम्भीर बातों पर, स्त्री-स्वातन्त्र्य पर, सामाजिक जीवन के इस असाधारण स्त्री-विद्रोह पर पूरा-पूरा विचार कर लिया है? क्या वह जानती है कि इस मार्ग पर जाने से उसपर क्या-क्या जिम्मेदारियां आएंगी? मैं तो उसे जानता हूं, वह कमजोर दिमाग की स्त्री है, एक असहनशील पत्नी है, एक निर्मम मां है। वह

> मानिनी भामा तमाम रात भूखी-प्यासी, ठिठुरती उस कोठरी के कोने में भीतर से द्वार बन्द करके बैठी रही। एक-एक करके उसके सामने पति के प्यार, सहिष्णुता, अधीनता के चित्र खिंचने लगे। उसे ख्याल हुआ - उनकी यह दरिद्रता उनकी अकर्मण्यता से नहीं है, देश के वातावरण से, लाचारी से और परम्परा से ही है। उसे रह-रहकर अपनी बच्ची की याद आने लगी, जो ज्वर में अपने सूखे होंठों से अम्मा को पुकार रही थी। उसे पति का अभ्यस्त मधुरतम सम्बोधन 'प्रभा की मां' की याद आ रही थी। झर-झर उसकी आंखों से आंसू बहते रहे, वह रोती रही। भूख-प्यास से थकित, शिथिल, गन्दी-अन्धेरी कोठरी में बैठी, वह मन ही मन कहने लगी - यही हमारी, हम स्त्रियों की स्वाधीनता का पथ है!

इन सब बातों को समझ ही नहीं सकती। परन्तु वह यह खत लिख कैसे सकी? घर त्यागने का साहस उसमें हो सकता है, यह उसकी दिमागी कमजोरी और असहनशीलतापूर्ण हृदय का परिणाम है; परन्तु उसके कारण इतने उच्च, इतने विशाल, इतने क्रांतिमय हैं, यह भामा समझ नहीं सकती। वह सिर्फ भरी गई है, भुलावे में आई है। ईश्वर करे, उसे सुबुद्धि प्राप्त हो, वह लौट पाए - मेरे पास नहीं। मैं जानता हूं, मैं अच्छा पति नहीं, मैं उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। मेरी क्षुद्र आमदनी उसके लिए काफी नहीं है। फिर भी प्रभा के लिए लौट ही आना चाहिए उसे। पता नहीं कहां गई, पर उसे तलाश करना होगा। उसके गुस्से को इतना सहा है, और भी सहना होगा। और उसने समझा हो या न समझा हो, उसका यह कहना तो सही है ही कि मुझे उसे बलपूर्वक अपने दुर्भाग्य से बांध रखने का कोई अधिकार ही नहीं है।

क्षण-भर के लिए मास्टर स्तब्ध बैठे रहे। उनकी तनखाह के गोल-गोल चालीस रुपये झल-झल करके उनके कानों में चालीस की गिनती कर गुम-गुम होने लगे और उनकी दरिद्रता, असहाय गृहस्थी विद्रूप कर ही-ही करके उनका उपहास करने लगी।

'मैं आज उस गुलामी की बेडियों को तोड आई हूं श्रीमतीजी।'

'शाबाश, तुम्हारे साहस की जितनी तारीफ की जाए, थोडी है। मैं समझती हूं कि अब तुम अधिक आजाादी से अपनी बहिनों और अपने देश की सेवा कर सकती हो।'

'आप जो कहें, वही मैं करूंगी।'

'मैं चाहती हूं, अभी तुम हमारे स्कूल में काम करो। सिर्फ सब सामान की फेहरिस्त रखना, चीजों को संभालना और तैयार माल को बाजार में बेचना, यही काम तुम्हें करना होगा।'

'और सब तो ठीक है, पर बाजार में बेचना, यह मुझसे कैसे होगा? मैं तो कभी बाजार जाती नहीं, लोगों से बात करती नहीं।'

'तो क्या मैं समझू, यह भीरुता, यह कमजोरी तुममें अभी बनी ही रहेगी?'

'पर श्रीमतीजी...'

'पर-वर कुछ नहीं। हरिया तुम्हारे साथ रहेगा। वह तुम्हारे कामों में खूब चंट है। सिर्फ हथलपक है, जो माल बेचता है या खरीदता है, अपनी मुट्ठी भी गर्म करता है। अब तुम्हारी निगरानी में वह ऐसा नहीं कर सकेगा।'

पर मैं काम कुछ जानती नहीं हूं श्रीमतीजी! कहीं कोई भूल-चूक हो गई तो...

'तो क्या हुआ, भूल-चूक भी इंसान से ही होती है। फिर सब काम करने ही से तो आते हैं, कोई पेट से तो सब सीखकर पैदा नहीं होता।'

'तब ठीक है श्रीमतीजी, अब मेरे खाने-पीने का क्या होगा?'

'तुम्हें बीस रुपया माहवार मिलेगा। रहने को मकान स्कूल ही में मिलेगा। काम सीख लेने पर और, कुछ और पढ-लिख जाने पर और अधिक तनखाह मिलेगी।'

भामा जब अपने नये घर में आई, तो उसका मन बैठ रहा था। उसका सारा उत्साह ठंडा पड रहा था। बीस रुपये की नौकरी, दिन-भर की गुलामी, फिर बाजार में माल बेचना। छी, छी! मैं कैसे उन लोगों से पार पाऊंगी?

घर को उसने देखा - उसके अपने घर की एक कोठरी से भी बदतर। एक साधारण-सी कोठरी, गन्दी और सूनी। बराबर की कोठरी में चपरासी हरिया रहता था। उसकी पीकर फेंकी हुई अधजली बीडियां बिखरी पडी थीं। झाड महीनों से नहीं लगी थी। एक टूटी खाट और पुराना घडा पानी से भरा, एक कोने में रखा था।

यह सब देखकर उसे अपना घर, गरीब पर साफ-सुथरा, छोटी-सी बिटिया प्रभा और सदा शान्त-शिष्ट रहनेवाले पति की याद आने लगी। पर उसने दृढतापूर्वक आगे कदम बढाने की ठान ली। कोठरी उसने झाड-बुहारकर ठीक कर ली। हरिया से उसने कहा:

'लेकिन चारपाई, बिछौना, सामान? मेरे पास तो कुछ नहीं है।'

'आज-भर मेरी चारपाई ले लो, पैसे हों तो दो, मैं सामान ला दूं। कल बन्दोबस्त कर लेना।'

'लेकिन मेरे पास पैसे भी तो नहीं हैं।'

'तो तुमने बडी बीबी से मांगा क्यों नहीं?'

भामा को उस नीच चपरासी का 'तुम, तुम' करके बातें करना बहुत बुरा लगा। उसकी चारपाई मंगनी लेना, उसीकी बगल की सूनी कोठरी में अकेली रहना, और बिना साज-सामान गृहस्थी बसाना - उसे यह सब एक असह्य, अनहोनी-सी बात लगने लगी।

उसने सोचा, चलो, घर लौट चलूं, पर मन फिर मचल गया। उसने 'तुम' कहकर उससे बात करनेवाले हरिया से 'तू' कहकर बात की। कहा - चल जरा मेरे साथ बीवीजी के घर, मैं उनसे जरूरी सामान का बंदोबस्त करने को कहूं।

हरिया को यह तू-तडाक पसन्द नहीं आई। उसने धृष्टता से कहा - मैं स्कूल का नौकर हूं, तुम्हारा नहीं, और रात-दिन को नौकरी भी नहीं करता। मैं इस समय कहीं नहीं आ-जा सकता। वह भीतर अपनी कोठरी में चला गया।

मानिनी भामा तमाम रात भूखी-प्यासी, ठिठुरती उस कोठरी के कोने में भीतर से द्वार बन्द करके बैठी रही। एक-एक करके उसके सामने पति के प्यार, सहिष्णुता, अधीनता के चित्र खिचने लगे। उसे ख्याल हुआ, उनकी यह दरिद्रता उनकी अकर्मण्यता से नहीं है, देश के वातावरण से, लाचारी से और परम्परा से ही है। उसे रह-रहकर अपनी बच्ची की याद आने लगी, जो ज्वर में अपने सूखे होंठों से अम्मा को पुकार रही थी। उसे पति का अभ्यस्त मधुरतम सम्बोधन 'प्रभा की मां' की याद आ रही थी। झर-झर उसकी आंखों से आंसू बहते रहे, वह रोती रही। भूख-प्यास से थकित, शिथिल, गन्दी-अन्धेरी कोठरी में बैठी, वह मन ही मन कहने लगी - यही हमारी, हम स्त्रियों की स्वाधीनता का पथ है!

दूसरी कोठरी में हरिया और उसके यार-दोस्त चण्ड में दम लगा रहे थे। गन्दी बातें बक रहे थे, और बीच-बीच में भामा को लेकर बहुत-सी उचित-अनुचित बातें कह रहे थे।

......

'किन्तु श्रीमतीजी, भामा मेरी पत्नी है।'

'कह तो दिया, आप नहीं मिल सकते।'

'मगर मिलना बहुत जरूरी है। श्रीमतीजी, उसकी बच्ची बहुत बीमार है।' 'महाशय, वह आपसे मिलना नहीं चाहती, आपसे कोई सरोकार रखना नहीं चाहती। ऐसी हालत में आप उससे जबरदस्ती नहीं मिल सकते।'

'जबरदस्ती नहीं, श्रीमतीजी, मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूं।'

'आप नाहक हमारा सिर खाते हैं।'

'लेकिन उसने उचित नहीं किया है, उसे सोचना होगा और आपको भी उसे समझाना चाहिए। सोचिए तो सही, वह एक पति की पत्नी ही नहीं, एक बच्ची की मां भी है।'

'वह अपना हानि-लाभ सोच सकती है, उसे आपकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं।'

'है, श्रीमतीजी है, उसे मेरी शिक्षा की सहायता की बहुत जरूरत है। वह अपना हानि-लाभ नहीं सोच सकती।'

'तो आप चाहते क्या हैं?'

'जरा उसे यहां बुलाइए, मैं उससे बात करना चाहता हूं।'

'परन्तु मैंने कहा, वह आपसे बात करना नहीं चाहती।'

'नहीं, नहीं, बात करने में हानि नहीं है।'

'ओफ, आपने तो सिर खा डाला। मैं कहती हूं, आप चले जाइए।'

'मैं उसे ले जाने के लिए आया हूं।'

'उसे आप जबरदस्ती नहीं ले जा सकते।'

'मैं उसे समझाना चाहता हूं।'

'वह आपसे मिलने को तैयार नहीं।'

'मैं उसका पति हूं श्रीमतीजी, वह मेरी पत्नी है, मेरा उसपर पूरा अधिकार है।

'तो आप अदालत में जाइए, अपने अधिकार का दावा कीजिए।'

'छी, छी! श्रीमतीजी, आप महिलाओं की हितैषिणी हैं, आप यह कभी पसन्द नहीं करेंगी।

'जी, मैं यह भी तो पसन्द नहीं करती कि पुरुष स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपनी आवश्यकताओं का गुलाम बनाएं।'

'कहां, हम तो उन्हें अपने घर-बार की मालकिन बनाकर, अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा, सब-कुछ उन्हें सौंपकर निश्चिन्त रहते हैं। जो कमाते हैं, उन्हीं के हाथ पर धरते हैं, फिर प्रत्येक वस्तु और कार्य के लिए उन्हींकी सहायता के भिखारी रहते हैं।'

'विचित्र प्रकृति के व्यक्ति हैं आप, अब मुझीसे उलझ रहे हैं। आप यह व्याख्यान किसी पत्र में छपवा दीजिएगा। आपकी युक्तियों का मेरे लिए कोई मूल्य नहीं है।'

'किन्तु श्रीमतीजी, आप एक पति और उसकी पत्नी के बीच इस प्रकार व्यवधान मत बनिए।'

'अच्छा तो आप मुझे धमकाना चाहते हैं?'

'मैं आपसे प्रार्थना करता हूं, विनय करता हूं। आप भद्र महिला हैं। एक माता को उसकी रुग्णा पुत्री से, उसके निरीह पति से पृथक् मत कीजिए। आप बडे घर की महिलाएं, और आपके पतिगण, यह सब विच्छेद सहन करने की शक्ति रखते हैं, हम बेचारे गरीब अध्यापक नहीं। हमारी छोटी-सी गरीब दुनिया है, शान्त छोटासा घर है, एक छोटे-से घोंसले के समान। हमलोग न ऊधो के लेने में और न माधो के देने में। दिन-भर मेहनत करते हैं - घर में पत्नी और बाहर पति, और रात को अपनी नींद सोते हैं। आप बडे-बडे आदमियों का शिकारी जीवन है, उसमें संघर्ष हैं, आकांक्षाएं हैं, प्रतिक्रिया है, और प्रतिस्पर्धा है। इन सबके बीच आप लोगों का व्यक्तिगत जीवन एक गौण वस्तु बन जाता है। पर हम लोग इन सब झंझटों से पाक-साफ हैं। कृपया हम जैसे निरीह प्राणियों को अपनी इस जीवन की घुड़दौड़ में न घसीटिएगा। दया

> भामा का सारा ही मान बिखर गया। ओह, अभी सिर्फ दो ही दिन तो बीते हैं। इसी बीच में इतना कष्ट, इतना अपमान, इतनी वेदना, इतना सूनापन ! हे ईश्वर, क्या अभी भी मैं अपने घर लौट नहीं सकती? क्या वे मुझे माफ नहीं कर सकते? अरे, मैं कितना उनसे तीखी रहती थी, कभी सीधे मुंह बात भी नहीं की, सेवा तो एक ओर रही। आज दो-दो कौडी के नीच आदमी मेरे मुंह लगते हैं। मैं एक गरीब मास्टर की बीवी ही सही, फिर भी एक इज्जतदार औरत तो हूं। किसी का दिया तो नहीं खाती।

कीजिए। मेरी पत्नी मेरे साथ कर दीजिए, मैं उसे समझा लूंगा, उससे निपट लूंगा।'

'अच्छा तो आप चाहते हैं कि मैं चपरासी को बुलाऊं? या पुलिस को फोन करूं?'

'जी नहीं, मैं चाहता हूं कि आप भामादेवी को यहां बुला दें। मैं उन्हें अपने घर ले जाऊं।'

'यह नहीं हो सकता।'

'यह बडा अन्याय है, श्रीमतीजी!'

'आप जाते हैं, या चपरासी बुलाया जाए?...

'चपरासी....ओ चपरासी!'

देवीजी ने उच्च स्वर से पुकारा। अपनी टेढ़ी और घिनौनी मूंछों में हंसता हुआ हरिया आ खडा हुआ। अर्ध उद्दण्डता से बोला:

'क्या करना होगा मेम साहब?'

मेम साहब के कुछ कहने से प्रथम ही मास्टर साहव 'कुछ नहीं भाई, कुछ नहीं' कहते हुए अपना छाता उठा आफिस से बाहर हो गए। चलती बार वे श्रीमतीजी को नमस्ते करना भूले नहीं।

.....

'सुना तुमने, वह खूसट आया था, दफ्तर में।'

'कौन?'

'अरे वही बागड़बिल्ला मास्टर, तुम्हारा पति।'

'लेकिन तू तमीज से बातें कर।'

'तमीज तुमसे, तुम क्या मेरी अफसर हो?'

'तो तूने समझा क्या है?'

'तुम बीस पाती हो, मैं भी बीस पाता हूं, तुमसे कम नहीं।'

'तो इसीसे तू मेरी बराबरी करेगा?'

'कल इतना काम कर दिया, सारा सामान बाजार से ढोकर लाया, और अब 'तू-तू' करके बातें करती हो ? ऐसी ही शाहजादी थीं, तो बीस रुपल्ली पर नौकरी करने और इस कोठरी में दिन काटने क्यों आई थीं?'

'देख हरिया, ज्यादा बदतमीजी करेगा तो अच्छा नहीं होगा।'

'क्या करोगी, मारोगी?'

'मैं कहती हूं, तू अपनी हैसियत में रह।'

'और तुम भी अपनी हैसियत में रहो। बहुत सहा, कल मैं मेम साहब से साफ कह दूंगा कि जिस-तिसकी गुलामी करना मेरा काम नहीं है। ऐसी तीन सौ साठ नौकरी मिल सकती हैं। कुछ तुम्हारी तरह घर छोड़कर भगोड़ा नहीं हूं। इज्जत रखता हूं।'

भामा का सारा ही मान बिखर गया। ओह, अभी सिर्फ दो ही दिन तो बीते हैं। इसी बीच में इतना कष्ट, इतना अपमान, इतनी वेदना, इतना सूनापन ! हे ईश्वर, क्या अभी भी मैं अपने घर लौट नहीं सकती? क्या वे मुझे माफ नहीं कर सकते? अरे, मैं कितना उनसे तीखी रहती थी, कभी सीधे मुंह बात भी नहीं की, सेवा तो एक ओर रही। आज दो-दो कौडी के नीच आदमी मेरे मुंह लगते हैं। मैं एक गरीब मास्टर की बीवी ही सही, फिर भी एक इज्जतदार औरत तो हूं। किसी का दिया तो नहीं खाती।

वे स्वयं लेने आए थे। कितना घबड़ा रहे होंगे! प्रभा की क्या हालत होगी? हाय, मैं उसे, पेट की बच्ची को बुखार में तडपती छोड आई! एक बार उसकी ओर देखा तक भी नहीं। सच तो यह है कि मैंने न कभी अपने पति का खयाल किया, न सन्तान का। मैं सदा अपने में असन्तुष्ट रही। अपने को देखा नहीं, सपने ही देखती रही।

वह उस नीच-कमीने नौकर से महजोरी करना रोक अपनी कोठरी में घस गई। द्वार भीतर से बन्द कर लिए, और फूट-फूटकर रोने लगी। दिन बीते, रातें वीती, सप्ताह बीते।

महीने और साल बीते। तीन साल बीत गए। एक दिन, दिवाली की रात को, मास्टर साहब अपने घर में दीये जला, प्रभा को खिला-पिला बहुत-सी वेदना, बहुत-सी. व्यथा, हृदय में भरे बैठे थे। वालिका कह रही थी - बाबूजी! अम्मां कब आएगी?

'आएगी बेटी, आएगी!'

'तुम तो रोज यही कहते हो। तुम झूठ बोलते हो बाबू जी।'

'झूठ नहीं बेटी, आएगी।'

'तो वह मुझे छोडकर चली क्यों गई?

'आज दिवाली है बाबूजी?'

'हां बेटी।'

'तुमने कितनी चीजें बनाई थीं-पूरी, कचौरी, रायता, हलुआ..."

'हां हां, बेटी, तुझे सब अच्छा लगा?'

'हां, बाबूजी, तुम कितनी खील लाए हो, खिलौने लाए हो-मैंने सब वहां सजाए हैं।

'बडी अच्छी है तू रानी बिटिया।'

'यह सब मैं अम्मा को दिखाऊंगी।'

'दिखाना।'

'देखकर वे हंसेंगी।'

'खूब हंसेंगी।'

'फिर मैं रूठ जाऊंगी।'

'नहीं, नहीं, रानी बिटिया नहीं रूठा करती।'

'तो वह मुझे छोडकर चली क्यों गई?'

मास्टरजी ने टप से एक बूंद आंसू गिराया, और पुत्री की दृष्टि बचाकर दूसरा पोंछ डाला। तभी बाहर खिडकी के पास किसीके धम्म से गिरने की आवाज आई।

मास्टरजी ने चौंककर देखा, गुनगुनाकर कहा-क्या गिरा? क्या हुआ?

वे उठकर बाहर गए, सडक पर दूर खम्भे पर टिमटिमाती लालटेन के प्रकाश में देखा, कोई काली-काली चीज खिडकी के पास पडी है। पास जाकर देखा, कोई स्त्री है। निकट से देखा, बेहोश है। मुंह पर लालटेन का प्रकाश डाला, मालूम हुआ भामा है।

मास्टर साहब एकदम व्यस्त हो उठे। उन्होंने सहायता के लिए इधर-उधर देखा, कोई न था, सन्नाटा था। उन्होंने दोनों बांहों में भामा को उठाया और घर के भीतर ले आए। उसे चरपाई पर लिटा दिया।

बालिका ने भय-मिश्रित दृष्टि से मूछिता माता

को देखा-कुछ समझ न सकी। उसने पिता की तरफ देखा।

'तेरी अम्मा आ गई बिटिया, बीमार है यह।' फिर भामा की नाक पर हाथ रखकर देखा, और कहा-उस कोने में दूध रखा है। ला तो जरा।

दूध के दो-चार चम्मच कण्ठ में उतरने पर भामा ने आखें खोलीं। एक बार उसने आंखें फाडकर घर को देखा, पति को देखा, पुत्री को देखा, और वह चीख मारकर फिर बेहोश हो गई।

मास्टरजी ने नब्ज देखी, कम्बल उसके ऊपर डाला। ध्यान से देखा, शरीर सूखकर कांटा हो गया है, चेहरे पर लाल-काले बडे-बडे दाग हैं, आंखें गढे में धंस गई हैं। सामने के दो दांत टूट गए हैं, आधे बाल सफेद हो गए हैं। कपडे गन्दे, चिथड़े। पैर कीचड़ और गन्दगी में लथपथ और" और "और वे दोनों हाथों से माथा पकडकर बैठ गए।

प्रभा ने भयभीत होकर कहा - क्या हुआ बाबूजी?

'कुछ नहीं बिटिया!' उन्होंने एक गहरी सांस ली। भामा को अच्छी तरह कम्बल उढा दिया। इसी बीच भामा ने फिर आंखें खोलीं। होश में आते ही वह उठने लगी। मास्टरजी ने बाधा देकर कहा - उठो मत, प्रभा की मां, बहुत कमजोर हो। क्या थोडा दूध दूं?

भामा जोर-जोर से रोने लगी। रोते-रोते हिचकियां बंध गई।

मास्टरजी ने घबराकर कहा-यह क्या नादानी है, सब ठीक हो जाएगा। सब ठीक।

'पर मैं जाऊंगी, ठहर नहीं सकती।'

'भला यह भी कोई बात है, तुम्हारी हालत क्या है यह तो देखो।'

भामा ने दोनों हाथों से मुंह ढक लिया। उसने कहा-तुम क्या मेरा एक उपकार कर दोगे? थोडा जहर मुझे दे दोगे? मैं वहां सडक पर जाकर खा लूंगी।

'यह क्या बात करती हो प्रभा की मां! हौसला रखो, सब ठीक हो जाएगा।'

'हाय मैं कैसे कहूं?'

'आखिर बात क्या है?'

'यह पापिन एक बच्चे की मां होनेवाली है, तुम नहीं जानते।'

'जान गया प्रभा की मां, पर घबराओ मत, सब ठीक हो जाएगा।'

'हाय मेरा घर!'

'अब इन बातों की इस समय चर्चा मत करो।'

'तुम क्या मुझे क्षमा कर दोगे?'

'दुनिया में सब-कुछ सहना पडता है, सब-कुछ देखना पडता है।'

'अरे देवता, मैंने तुम्हें कभी नहीं पहचाना।'

'कुछ बात नहीं, कुछ बात नहीं, एक नींद तुम सो लो, प्रभा की मां।'

'आहह मरी, आह पीर।

'अच्छा, अच्छा! प्रभा बिटिया, तू जरा मां के पास बैठ, मैं अभी आता हूं बेटी। प्रभा की मां, घबराना नहीं, पास ही एक दाई रहती है, दस मिनट लगेंगे। हौसला रखना।' और वह कर्तव्यनिष्ठ मास्टर साहब, जल्दी-जल्दी घर से निकलकर, दिवाली की जलती हुई अनगिनत दीप-पंक्तियों को लगभग अनदेखा कर, तेजी से एक अंधेरी गली की ओर दौड चले।

'चरण-रज दो मालिक।'

'वाहियात बात है, प्रभा की मां।'

'अरे देवता, चरण-रज दो, प्रो पतितपावन, मो अशरण-शरण, ओ दीनदयाल. चरण-रज दो।'

'तुम पागल हो गई हो, प्रभा की मां।'

'पागल हो जाऊंगी। तीन साल में दुनिया देख ली, दुनिया समझ डाली; पर इस अन्धी ने तुम्हें न देखा, तुम्हें न समझा।'

'यह तुम फालतू बकबक करती रहोगी तो फिर ज्वर हो जाने का भय है। बिटिया प्रभा, अपनी मां को थोडा दूध तो दे।'

'मैं भैया को देखूंगी, बाबूजी।'

भामा ने पुत्री को छाती से लगाकर कहा, 'मेरी बच्ची, तू अपने बाप की बेटी है-इस पतिता मां को छू दे जिससे वह पाप-मुक्त हो जाए।'

'नाहक बिटिया को परेशान मत करो, प्रभा की मां।'

'हाय, पर मैं तुम्हें मुंह कैसे दिखाऊंगी?'

'प्रभा की मां, दुनिया में सब-कुछ होता है। तुमने इतना कष्ट पाया है, अब समझ गई हो। उन सब बातों को याद करने से क्या होगा? जो होना था हुआ, अब आगे की सुध लो। हां, अब मुझे तनखा साठ रुपये मिल रही है, प्रभा की मां। और ट्यूशन से भी तीस-चालीस पीट लाता हूं। और एक चीज देखो, प्रभा ने खुद पसन्द करके अपनी अम्मा के लिए खरीदी थी, उस दिवाली को।'

वे एक नवयुवक की भांति उत्साहित हो उठे, बक्स से एक रेशमी साडी निकाली और भामा के हाथ में देकर कहा-तनिक देखो तो।

भामा ने हाथ बढाकर पति के चरण छुए। उसने रोते-रोते कहा-मुझे साडी नहीं, गहना नहीं, सुख नहीं, सिर्फ तुम्हारी शुभदृष्टि चाहिए। नारी-जीवन का तथ्य मैं समझ गई हूं; किन्तु अपना नारीत्व खोकर। वह घर की सम्राज्ञी है, और उसे खूब सावधानी से अपने घर को चारों ओर से बन्द करके अपने साम्राज्य का स्वच्छन्द उपभोग करना चाहिए, जिससे बाहर की वायु उसमें प्रविष्ट न हो, फिर वह साम्राज्य चाहे भी जैसा-लघु, तुच्छ, विपन्न, असहाय क्यों न हो।

मास्टर साहब ने कहा-प्रभा की मां, तुम तो मुझसे भी ज्यादा पण्डिता हो गई। कैसी-कैसी बातें सीख लीं तुमने प्रभा की मां!-वे ही-ही करके हंसने लगे।

उनकी आंखों में अमल-धवल उज्ज्वल अश्रु-बिन्दु झलक रहे थे।

बड़े घर की बेटी

– मुंशी प्रेमचंद

> **प्राचीन हिंदू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आज-कल स्त्रियों को कुटुम्ब को कुटुम्ब में मिल-जुल कर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश दोनों के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं ! कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं ! स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था।**

बेनीमाधव सिंह गौरीपुर गाँव के जमींदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य संपन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मंदिर जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे। कहते हैं इस दरवाजे पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थि-पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था; पर दूध शायद बहुत देती थी; क्योंकि एक न एक आदमी हांडी लिए उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से अधिक संपत्ति वकीलों को भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हजार रुपये वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठ सिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी.ए. की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ्तर में नौकर था। छोटा लड़का लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का, सजीला जवान था। भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताजा दूध वह उठ कर सबेरे पी जाता था। श्रीकंठ सिंह की दशा बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने बी.ए. इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांतिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रंथों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। शाम-सबेरे उनके कमरे से प्राय: खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनायी दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अँगरेजी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेजी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे; बल्कि वह बहुधा बड़े जोर से उसकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला होते और स्वयं किसी न किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिंदू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब के तो वह एक-मात्र उपासक थे।

आज-कल स्त्रियों को कुटुम्ब को कुटुम्ब में मिल-जुल कर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश दोनों के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं! कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं ! स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास-ससुर, देवर या जेठ आदि घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये-दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाय।

आनंदी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी-शिकरे, झाड़-फानूस,

आनंदी अपने नये घर में आयी, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहां नाम-मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लायी थी; पर यहाँ बाग कहाँ। मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थी का मकान था; किन्तु आनंदी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नयी अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानों उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बड़े उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे; पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब की सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये; पर पंद्रह-बीस हजार रुपयों का कर्ज सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया।

आनंदी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर संतान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-संकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें? न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चंदे का रुपया मांगने आए। शायद नागरी-प्रचार का चंदा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठ सिंह का आनंदी के साथ ब्याह हो गया।

आनंदी अपने नये घर में आयी, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहां नाम-मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लायी थी; पर यहाँ बाग कहाँ। मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थी का मकान था; किन्तु आनंदी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नयी अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानों उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह दो चिड़िया लिये हुए आया और भावज से बोला - जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है। आनंदी भोजन बनाकर उसकी राह देख रही थी। अब वह नया व्यंजन बनाने बैठी। हांड़ी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी, किफायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला - दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?

आनंदी ने कहा - घी सब मांस में पड़ गया। लालबिहारी जोर से बोला - अभी परसों घी आया है। इतना जल्द उठ गया?

आनंदी ने उत्तर दिया - आज तो कुल पाव-भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई, तिनक कर बोला - मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो !

स्त्री गालियाँ सह लेती हैं, मार भी सह लेती

हैं; पर मैके की निंदा उनसे नहीं सही जाती। आनंदी मुँह फेर कर बोली - हाथी मरा भी, तो नौ लाख का। वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पलट दी, और बोला - जी चाहता है, जीभ पकड़ कर खींच लूँ।

आनंद को भी क्रोध आ गया। मुँह लाल हो गया, बोली - वह होते तो आज इसका मजा चखाते।

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ कर लिया करता था। खड़ाऊँ उठाकर आनंदी की ओर जोर से फेंकी, और बोला - जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।

आनंदी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया; पर अँगली में बड़ी चोट आयी। क्रोध के मारे हवा से हिलते पत्ते की भांति कांपती हुई अपने कमरे में आ कर खड़ी हो गयी। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमंड होता है। आनंदी खून का घूँट पी कर रह गयी।

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे। वृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनंदी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया न पिया, उनकी बाट देखती रही। अंत में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बाहर बैठ कर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल संबंधी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुधि न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे! किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। एकांत हुआ, तो लालबिहारी ने कहा - भैया, आप जरा भाभी को समझा दीजिएगा कि मुँह सँभाल कर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर साक्षी दी - हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्दों के मुँह लगें।

लालबिहारी - वह बड़े घर की बेटी हैं, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं है।

श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा - आखिर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा - कुछ भी नहीं; यों ही आप ही आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकंठ खा-पीकर आनंदी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हजरत भी कुछ तीखे थे। आनंदी ने पूछा - चित्त तो प्रसन्न है।

श्रीकंठ बोले - बहुत प्रसन्न है; पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है?

आनंदी की त्योरियों पर बल पड़ गये, झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली - जिसने तुमसे यह आग लगायी है, उसे पाऊँ, मुँह झुलस दूँ।

श्रीकंठ - इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।

आनंदी - क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है! नहीं तो गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मार कर यों न अकड़ता।

श्रीकंठ - सब हाल साफ-साफ कहा, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनंदी - परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हांडी में पाव-भर से अधिक न था। वह सब मैंने मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा तो कहने लगा - दाल में घी क्यों नहीं है? बस, इसी पर मेरे मैके को बुरा-भला कहने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस इतनी सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो सिर फट जाय। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।

श्रीकंठ की ऑखें लाल हो गयीं। बोले - यहाँ तक हो गया, इस छोकरे का यह साहस! आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांति पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था; स्त्रियों के आँसू पुरुष की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रात:काल अपने बाप के पास जाकर बोले - दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था; परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे। वृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनंदी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया न पिया, उनकी बाट देखती रही। अंत में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बाहर बैठ कर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल संबंधी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुधि न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे!

स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ी ! दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधव सिंह घबरा उठे और बोले - क्यों?

श्रीकंठ - इसलिए कि मुझे भी अपनी मान - प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा घर पर रहता नहीं। यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिन्ता नहीं। कोई एक की दो कह ले, वहाँ तक मैं सह सकता हूँ किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला - बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इस तरह घर का नाश कर देती है। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकंठ - इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में कई घर सँभल गये, पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दंड नहीं होता।

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले - लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल - चूक हो, उसके कान पकड़ो लेकिन...

श्रीकंठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधव सिंह - स्त्री के पीछे?

श्रीकंठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे, लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच

आनंदी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी। इस बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया।

में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तिलमिलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन ही मन जलते थे। वे कहा करते थे कि श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसीलिए वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी, इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभकामनाएँ आज पूरी होती दिखायी दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आ कर बैठ गया। बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरंत कोमल शब्दों में बोले - बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभवरहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या खबर? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला - लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव - बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा करो।

श्रीकंठ - उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप संभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाय। बस यह मेरा अंतिम निश्चय है।

लालबिहारी सिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब वह इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई न कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने ही बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्यौढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दंगल में पछाड़ दिया, तो

उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जा कर उसे गले लगा लिया था, पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। इसमें संदेह नहीं कि अपने किये पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आंखे उनके सामने कैसे उठेगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था। परंतु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं।

यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार बातें कह देते; इतना ही नहीं दो-चार तमाचे भी लगा देते तो कदाचित् उसे इतना दु:ख न होता; पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से सहा न गया ! वह रोता हुआ घर आया। कोठरी में जा कर कपड़े पहने, आंखे पोंछी, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था। तब आनंदी के द्वार पर आकर बोला - भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। अब वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते; इसलिए अब मैं जाता हूँ। उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा! मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना। यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनंदी के द्वार पर खड़ था, उसी समय श्रीकंठ सिंह भी आंखे लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आंखे फेर लीं, और कतरा कर निकल गये। मानों उसकी परछाही से दूर भागते हों।

आनंदी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करुँगी। इस बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकंठ को देखकर आनंदी ने कहा - लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ - तो मैं क्या करूँ?

आनंदी - भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे! मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ - मैं न बुलाऊँगा।

आनंदी - पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गयी है, ऐसा न हो, कहीं चल दें।

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा - भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते; इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कह कर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाजे की ओर बढ़ा। अंत में आनंदी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिर कर देखा और ऑंखों में आंसू भरे बोला - मुझे जाने दो।

आनंदी - कहाँ जाते हो?

लालबिहारी - जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनंदी - मैं न जाने दूँगी?

लालबिहारी - मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनंदी -तुम्हें मेरी सौगंध अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।

लालबिहारी - जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ से साफ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

> **भाई के मुँह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। इसमें संदेह नहीं कि अपने किये पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आंखे उनके सामने कैसे उठेगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया।**

आनंदी - मैं ईश्वर को साक्षी दे कर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा - भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दंड देंगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकंठ ने कांपते हुए स्वर में कहा - लल्लू! इन बातों को बिल्कुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा, तो फिर ऐसा अवसर न आवेगा।

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनंद से पुलकित हो गये। बोल उठे - बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गांव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसी ने इन शब्दों में आनंदी की उदारता को सराहा - 'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।'

पुरस्कार

– जयशंकर प्रसाद

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था।-देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अञ्चल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखायी पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरञ्जित नन्ही-नन्ही बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रञ्जित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

> पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़-तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी-वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था-'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र, कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं, मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता-उस दिन इंद्र-पूजन की धूम-धाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते, तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेयवसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे-विस्मय से, कुतूहल

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है।

से। और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को। अहा कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ उसमें की स्वर्णमुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे! महाराज की भृकुटी भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा-

देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामथ्र्य के बाहर है। महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा-अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है, मन्त्रिवर! .... महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।-मधूलिका उत्तेजित हो उठी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा-देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है।-महाराज चौंक उठे-सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?

हाँ, देव! -सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के पराम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?-महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ-अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वह रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुण्डेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक-कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धुदेश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक-वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने लिए, परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया-छि:, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखे खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। -भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की सञ्चालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान....

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि!

मेरे उस अभिनय का-मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ-मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी....।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनबिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दु:ख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूंगा।

नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती-चाहे उससे मुझे कितना ही दु:ख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं।

राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंच कर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्नकिरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

मधूलिका ने राजा का प्रतिपादन, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाये रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई। दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे प्रभात में-तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी-उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी-क्या कहा था? दु:ख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था? और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री बिडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र-उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में-बिजली के आलोक में-नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कर रही थी। ‘अभी वह निकल गया’। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ-

कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी-राजकुमार!

मधूलिका?-आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई -इतने दिनों के बाद आज फिर!

अरुण ने कहा-कितना समझाया मैंने-परन्तु.....

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा-और आज आपकी यह क्या दशा है?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा-मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी-मगध का विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा-जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं, भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम...।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ?-अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हे राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरुप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा-द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा-आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला-तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा-तुम्हारी इच्छा हो, तो प्राणों से पण लगाकर मैं तुम्हें इस कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी?-मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी...नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला-क्या?

सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिको के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगी। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा-तुम बोलती नहीं हो?

जो कहोगे, वह करूँगी....मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्णमञ्च पर कोशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखे मुकुलित किये हैं। एक चामधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे सञ्चलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा-जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना लेकर आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा-स्त्री! प्रार्थना करने आई? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा-तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।

मूर्ख! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी बनाना होगा।

महाराज ने कहा-कृषक बालिके! वह बड़ी उबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना....

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव!-कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है, आज मनुष्यों के पद-सञ्चार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे वे मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काट कर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखे चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरण झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगी। अरुण ने कहा-चार प्रहर और, विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!

भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?

अवश्य, तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा-अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्द्धरात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए; तब रात्रि भर के लिए विदा! मधूलिके!

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से, बढ़नेवाले अन्धकार में वह झोपड़ी की ओर चली।

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़-तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई।

जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी-वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था-'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र, कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं, मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित होती जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्राय: एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा-कौन? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने सड़क पर कहा-तू कौन है, स्त्री? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी-बाँध लो, मुझे बाँध लो! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले-पगली है।

पगली नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है, स्पष्ट कह!

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायेगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा-तू क्या कह रही है?

मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके, तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा-अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?

सेनापति की जय हो! दो सौ ।

उन्हें शीघ्र ही एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हों।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिये प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चञ्चल हो उठे। सेनापति ने कहा-जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा-सिंहमित्र की कन्या! फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा-मधूलिका, यह सत्य है!

हाँ, देव!

राजा ने सेनापति से कहा-सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो मैं अभी आता हूँ। सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा-सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आतताईयों का प्रबन्ध कर लूँ।

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरञ्जित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा था। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

ऊषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हूँकार करते हुए कहा-'वध करो!' राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी-'प्राण दण्ड।' मधूलिका बुलायी गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा-मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा-मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा-मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा-नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

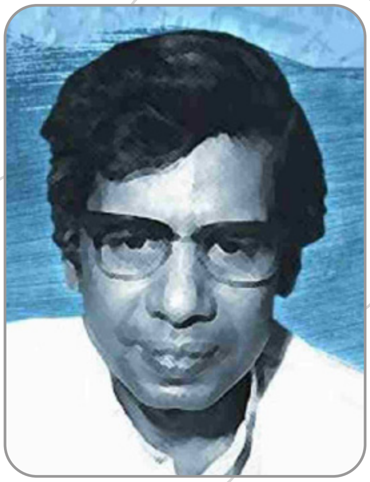

पंचलाइट/पंचलैट

– फणीश्वरनाथ रेणु

पिछले पन्द्रह दिनों से दंड-जुरमाने के पैसे जमा करके महतो टोली के पंचों ने पेट्रोमेक्स खरीदा है इस बार, रामनवमी के मेले में। गाँव में सब मिलाकर आठ पंचायतें हैं। हरेक जाति की अलग-अलग सभाचट्टी है। सभी पंचायतों में दरी, जाजिम, सतरंजी और पेट्रोमेक्स हैं। पेट्रोमेक्स जिसे गाँववाले पंचलाइट कहते हैं।

पंचलाइट खरीदने के बाद पंचों ने मेले में ही तय किया - दस रुपए जो बच गए हैं, इससे पूजा की सामग्री खरीद ली जाए - बिना नेम-टेम के कल-कब्जेवाली चीज का पुन्याह नहीं करना चाहिए। अंग्रेजबहादुर के राज में भी पुल बनाने से पहले बलि दी जाती है।

मेले से सभी पंच दिन-दहाड़े ही गाँव लौटे सबसे आगे पंचायत का छड़ीदार पंचलाइट का डिब्बा माथे पर लेकर और उसके पीछे सरदार दीवान और पंच वगैरह। गाँव के बाहर ही ब्राह्मण टोले के फुंटगी झा ने टोक दिया - कितने में लालटेन खरीद हुआ महतो?

देखते नहीं हैं, पंचलैट है! बामनटोली के लोग ऐसे ही ताब करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी बिजली-बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलैट को लालटेन!

टोले-भर के लोग जमा हो गए। औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे सभी काम-काज छोड़कर दौड़े आए, चल रे चल! अपना पंचलैट आया है, पंचलैट!

छड़ीदार अगनू महतो रह-रहकर लोगों को चेतावनी देने लगा - हाँ, दूर से, जरा दूर से! छू-छा मत करो, ठेस न लगे!

सरदार ने अपनी स्त्री से कहा, साँझ को पूजा होगी जल्दी से नहा-धोकर चौका-पीढ़ी लगाओ।

टोले की कीर्तन-मंडली के मूलगैन ने अपने भगतिया पच्छकों को समझाकर कहा, देखो, आज पंचलैट की रोशनी में कीर्तन होगा। बेताले लोगों से पहले ही कह देता हूँ, आज यदि आखर धरने में डेढ़-बेढ़ हुआ, तो दूसरे दिन से एकदम बैकाट!

औरतों की मण्डली में गुलरी काकी गोसाईं का गीत गुनगुनाने लगी। छोटे-छोटे बच्चों ने उत्साह के मारे बेवजह शोरगुल मचाना शुरू किया।

सूरज डूबने के एक घंटा पहले से ही टोले-भर के लोग सरदार के दरवाजे पर आकर जमा हो गए - पंचलैट, पंचलैट!

पंचलैट के सिवा और कोई गप नहीं, कोई दूसरी बात नहीं। सरदार ने गुड़गुड़ी पीते हुए कहा, दुकानदार ने पहले सुनाया, पूरे पाँच कौड़ी पाँच रुपया। मैंने कहा कि दुकानदार साहेब, यह मत समझिए कि हम लोग एकदम देहाती हैं। बहुत-बहुत पंचलैट देखा है। इसके बाद दुकानदार मेरा मुँह देखने लगा। बोला, लगता हैं आप जाति के सरदार हैं! ठीक है, जब आप सरदार होकर खुद पंचलैट खरीदने आए हैं तो जाइए, पूरे पाँच कौड़ी में आपको

> **अन्त में पंचलाइट की रोशनी से सारी टोली जगमगा उठी तो कीर्तनिया लोगों ने एक स्वर में, महावीर स्वामी की जय-ध्वनि के साथ कीर्तन शुरु कर दिया। पंचलैट की रोशनी में सभी के मुस्कुराते हुए चेहरे स्पष्ट हो गए. गोधन ने सबका दिल जीत लिया। मुनरी ने हसरत-भरी निगाह से गोधन की ओर देखा। आँखें चार हुईं और आँखों-ही-आँखों में बातें हुईं - कहा-सुना माफ करना! मेरा क्या कसूर?**

दे रहे हैं।

दीवानजी ने कहा, अलबत्ता चेहरा परखनेवाला दुकानदार है। पंचलैट का बक्सा दुकान का नौकर देना नहीं चाहता था। मैंने कहा, देखिए दुकानदार साहेब, बिना बक्सा

> **सभी ने मन-ही-मन सरदार, दीवान और पंचों की बुद्धि पर अविश्वास प्रकट किया-बिन बूझे-समझे काम करते हैं ये लोग! उपस्थित जन-समूह में फिर मायूसी छा गई. लेकिन, गोधन बड़ा होशियार लड़का है। बिना इसपिरीट के ही पंचलैट जलाएगा - थोड़ा गरी का तेल ला दो! मुनरी दौड़कर गई और एक मलसी गरी का तेल ले आई. गोधन पंचलैट में पम्प देने लगा। पंचलैट की रेशमी थैली में धीरे-धीरे रोशनी आने लगी।**

पंचलैट कैसे ले जाएँगे! दुकानदार ने नौकर को डाँटते हुए कहा, क्यों रे! दीवानजी की आँखों के आगे धुरखेल करता है, दे दो बक्सा!

टोले के लोगों ने अपने सरदार और दीवान को श्रद्धा-भरी निगाहों से देखा। छड़ीदार ने औरतों की मंडली में सुनाया - रास्ते में सन्न-सन्न बोलता था पंचलैट!

लेकिन ऐन मौके पर, लेकिन लग गया! रूदल साह बनिये की दुकान से तीन बोतल किरासन तेल आया और सवाल पैदा हुआ, पंचलैट को जलाएगा कौन!

यह बात पहले किसी के दिमाग में नहीं आई थी। पंचलैट खरीदने के पहले किसी ने न सोचा। खरीदने के बाद भी नहीं। अब, पूजा की सामग्री चौक पर सजी हुई है, कीर्तनिया लोग खोल-ढोल-करताल खोलकर बैठे हैं और पंचलैट पड़ा हुआ है। गाँववालों ने आज तक कोई ऐसी चीज नहीं खरीदी, जिसमें जलाने-बुझाने का झंझट हो। कहावत है न, भाई रे, गाय लूँ? तो दुहे कौन? लो मजा! अब इस कल-कब्जेवाली चीज को कौन बाले?

यह बात नहीं कि गाँव-भर में कोई पंचलैट बालनेवाला नहीं। हरेक पंचायत में पंचलैट है, उसके जलानेवाले जानकार हैं। लेकिन सवाल है कि पहली बार नेम-टेम करके, शुभ-लाभ करके, दूसरी पंचायत के आदमी की मदद से पंचलैट जलेगा? इससे तो अच्छा है पंचलैट पड़ा रहे। जिन्दगी-भर ताना कौन सहे! बात-बात में दूसरे टोले के लोग कूट करेंगे-तुम लोगों का पंचलैट पहली बार दूसरे के हाथ से! न, न! पंचायत की इज्जत का सवाल है। दूसरे टोले के लोगों से मत कहिए!

चारों ओर उदासी छा गई। अँधेरा बढ़ने लगा। किसी ने अपने घर में आज ढिबरी भी नहीं जलाई थी। आज पंचलैट के सामने ढिबरी कौन बालता है!

सब किए-कराए पर पानी फिर रहा था। सरदार, दीवान और छड़ीदार के मुँह में बोली नहीं। पंचों के चेहरे उतर गए थे। किसी ने दबी हुई आवाज में कहा, कल-कब्जेवाली चीज का नखरा बहुत बड़ा होता है।

एक नौजवान ने आकर सूचना दी - राजपूत टोली के लोग हँसते-हँसते पागल हो रहे हैं। कहते हैं, कान पकड़कर पंचलैट के सामने पाँच बार उठो-बैठो, तुरन्त जलने लगेगा।

पंचों ने सुनकर मन-ही-मन कहा, भगवान ने हँसने का मौका दिया है, हँसेंगे नहीं? एक बूढ़े के आकर खबर दी, रूदल साह बनिया भारी बतंगड़ आदमी है। कह रहा है, पंचलैट का पम्प जरा होशियारी से देना!

गुलरी काकी की बेटी मुनरी के मुँह में बार-बार एक बात आकर मन में लौट जाती है। वह कैसे बोले? वह जानती है कि गोधन पंचलैट बालना जनता है। लेकिन, गोधन का हुक्का-पानी पंचायत से बंद है। मुनरी की माँ ने पंचायत से फरियाद की थी कि गोधन रोज उसकी बेटी को देखकर सलम-सलम वाला सलीमा का गीत गाता है - हम तुमसे

मोहोब्बत करके सलम! पंचों की निगाह पर गोधन बहुत दिन से चढ़ा हुआ था। दूसरे गाँव से आकर बसा है गोधन और अब टोले के पंचों को पान-सुपारी खाने के लिए भी कुछ नहीं दिया। परवाह ही नहीं करता है।

बस, पंचों को मौका मिला। दस रुपया जुरमाना! न देने से हुक्का-पानी बन्द। आज तक गोधन पंचायत से बाहर है। उससे कैसे कहा जाए! मुनरी उसका नाम कैसे ले? और उधर जाति का पानी उतर रहा है।

मुनरी ने चालाकी से अपनी सहेली कनेली के कान में बात डाल दी - कनेली! चिगो, चिध-SS, चिन!

कनेली मुस्कुराकर रह गई - गोधन तो बन्द है। मुनरी बोली - तू कह तो सरदार से!

गोधन जानता है पंचलैट बालना - कनेली बोली।

कौन, गोधन? जानता है बालना? लेकिन सरदार ने दीवान की ओर देखा और दीवान ने पंचों की ओर। पंचों ने एकमत होकर हुक्का-पानी बन्द किया है। सलीमा का गीत गाकर आँख का इशारा मारनेवाले गोधन से गाँव-भर के लोग नाराज थे।

सरदार ने कहा, जाति की बन्दिश क्या, जबकि जाति की इज्जत ही पानी में बही जा रही है! क्यों जी दीवान?

दीवान ने कहा, ठीक है।

पंचों ने भी एक स्वर में कहा, ठीक है। गोधन को खोल दिया जाए।

सरदार ने छड़ीदार को भेजा। छड़ीदार वापस आकर बोला, गोधन आने को राजी नहीं हो रहा है। कहता है, पंचों की क्या परतीत है? कोई कल-कब्जा बिगड़ गया तो मुझे दंड-जुरमाना भरना पड़ेगा।

छड़ीदार ने रोनी सूरत बनाकर कहा, किसी तरह गोधन को राजी करवाइए, नहीं तो कल से गाँव में मुँह दिखाना मुश्किल हो जाएगा।

गुलरी काकी बोली, जरा मैं देखूँ कहके?

गुलरी काकी उठकर गोधन के झोंपड़े की ओर गई और गोधन को मना लाई। सभी के चेहरे पर नई आशा की रोशनी चमकी।

गोधन चुपचाप पंचलैट में तेल भरने लगा। सरदार की स्त्री ने पूजा की सामग्री के पास चक्कर काटती हुई बिल्ली को भगाया। कीर्तन-मंडली का मूलगैन मुरछल के बालों को सँवारने लगा। गोधन ने पूछा, इसपिरीट कहाँ है? बिना इसपिरीट के कैसे जलेगा?

लो मजा! अब यह दूसरा बखेड़ा खड़ा हुआ। सभी ने मन-ही-मन सरदार, दीवान और पंचों की बुद्धि पर अविश्वास प्रकट किया-बिन बूझे-समझे काम करते हैं ये लोग! उपस्थित जन-समूह में फिर मायूसी छा गई।

लेकिन, गोधन बड़ा होशियार लड़का है। बिना इसपिरीट के ही पंचलैट जलाएगा, थोड़ा गरी का तेल ला दो! मुनरी दौड़कर गई और एक मलसी गरी का तेल ले आई. गोधन पंचलैट में पम्प देने लगा।

पंचलैट की रेशमी थैली में धीरे-धीरे रोशनी आने लगी। गोधन कभी मुँह से फूँकता, कभी पंचलैट की चाबी घुमाता। थोड़ी देर के बाद पंचलैट से सनसनाहट की आवाज निकलने लगी और रोशनी बढ़ती गई लोगों के दिल का मैल दूर हो गया। गोधन बड़ा काबिल लड़का है!

अन्त में पंचलाइट की रोशनी से सारी टोली जगमगा उठी तो कीर्तनिया लोगों ने एक स्वर में, महावीर स्वामी की जय-ध्वनि के साथ कीर्तन शुरू कर दिया। पंचलैट की रोशनी में सभी के मुस्कुराते हुए चेहरे स्पष्ट हो गए. गोधन ने सबका दिल जीत लिया।

मुनरी ने हसरत-भरी निगाह से गोधन की ओर देखा। आँखें चार हुईं और आँखों-ही-आँखों में बातें हुईं - कहा-सुना माफ करना! मेरा क्या कसूर?

गुलरी काकी की बेटी मुनरी के मुँह में बार-बार एक बात आकर मन में लौट जाती है। वह कैसे बोले? वह जानती है कि गोधन पंचलैट बालना जनता है। लेकिन, गोधन का हुक्का-पानी पंचायत से बंद है। मुनरी की माँ ने पंचायत से फरियाद की थी कि गोधन रोज उसकी बेटी को देखकर सलम-सलम वाला सलीमा का गीत गाता है-हम तुमसे मोहोब्बत करके सलम! पंचों की निगाह पर गोधन बहुत दिन से चढ़ा हुआ था। दूसरे गाँव से आकर बसा है गोधन और अब टोले के पंचों को पान-सुपारी खाने के लिए भी कुछ नहीं दिया। परवाह ही नहीं करता है। बस, पंचों को मौका मिला। दस रुपया जुरमाना! न देने से हुक्का-पानी बन्द।

सरदार ने गोधन को बहुत प्यार से पास बुलाकर कहा, तुमने जाति की इज्जत रखी है। तुम्हारा सात खून माफ। खूब गाओ सलीमा का गाना।

गुलरी काकी बोली, आज रात मेरे घर में खाना गोधन!

गोधन ने फिर एक बार मुनरी की ओर देखा। मुनरी की पलकें झुक गईं।

कीर्तनिया लोगों ने एक कीर्तन समाप्त कर जय-ध्वनि की - जय हो! जय हो! पंचलैट के प्रकाश में पेड़-पौधों का पत्ता-पत्ता पुलकित हो रहा था।

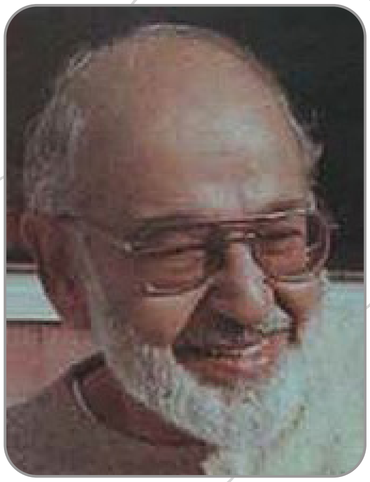

इन्दु की बेटी

– अज्ञेय

दो बरस में शादी का नयापन पुराना हो जाता है, तब गृहस्थी का सुख नयेपन के अलावा जो दूसरी चीजें होती हैं, उन्हीं पर निर्भर करता है। मातृत्व या पितृत्व की भावना, समान रुचियाँ, इकट्ठे बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, एक-दूसरे को पहुँचाये गये, सुख-क्लेश की छाप-नयापन मिट जाने के बाद ये और ऐसी चीजें ही ईंटें होती हैं, जिनसे गृहस्थी की भीत खड़ी होती है। और रामलाल के जीवन में ये सब जैसे थे ही नहीं। उसके कोई सन्तान नहीं थी, जहाँ तक उसके दाम्पत्य जीवन के सुख-दुःख की उसे याद थी, 'वहाँ तक उसे यही दीखता था कि उन्होंने एक-दूसरे को कुछ दिया है तो क्लेश ही दिया है। इससे आगे थोड़ी-बहुत मामूली सहूलियत एक-दूसरे के लिए पैदा की गयी है, लेकिन उसका शिथिल दिमाग उन चीजों को सुख कहने को तैयार नहीं है।

जब गाड़ी खचाखच लदी होने के कारण मानो कराहती हुई स्टेशन से निकली, तब रामलाल ने एक लम्बी साँस लेकर अपना ध्यान उस प्राण ले लेनेवाली गर्मी, अपने पसीने से तर कपड़ों और साथ बैठे हुए नंगे बदनवाले गँवार के शरीर की बू से हटाकर फिर अपने सामने बैठी हुई अपनी पत्नी की ओर लगाया; और उसकी पुरानी कुढ़िन फिर जाग उठी।

रामलाल की शादी हुए दो बरस हो चले हैं। दो बरस में शादी का नयापन पुराना हो जाता है, तब गृहस्थी का सुख नयेपन के अलावा जो दूसरी चीजें होती हैं, उन्हीं पर निर्भर करता है। मातृत्व या पितृत्व की भावना, समान रुचियाँ, इकट्ठे बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, एक-दूसरे को पहुँचाये गये, सुख-क्लेश की छाप-नयापन मिट जाने के बाद ये और ऐसी चीजें ही ईंटें होती हैं, जिनसे गृहस्थी की भीत खड़ी होती है। और रामलाल के जीवन में ये सब जैसे थे ही नहीं। उसके कोई सन्तान नहीं थी, जहाँ तक उसके दाम्पत्य जीवन के सुख-दुःख की उसे याद थी, 'वहाँ तक उसे यही दीखता था कि उन्होंने एक-दूसरे को कुछ दिया है तो क्लेश ही दिया है। इससे आगे थोड़ी-बहुत मामूली सहूलियत एक-दूसरे के लिए पैदा की गयी है, लेकिन उसका शिथिल दिमाग उन चीजों को सुख कहने को तैयार नहीं है।

उदाहरणतया वह कमाकर कुछ लाता रहा है, और स्त्री रोटी पकाकर देती रही है, कपड़े धोती रही है, झाड़ू लगाती रही है, चक्की भी पीसती रही है। क्या इन चीजों का नाम सुख है? क्या उसने शादी इसलिए की थी कि एक महरी उसे मिल जाये और वह खुद एक दिन से दूसरा दिन कर ले कि चख-चख में बच जाय और बस? क्या उसने बी.ए. तक पढ़ाई इसीलिए की थी हर महीने बीस-एक रुपल्लियाँ कमाकर इसके आगे लाकर पटक दिया करे कि ले, इस कबाड़-खाने को सँभाल और इस ढाबे को चलता रख! - इस गँवार को, अनपढ़, बेवकूफ़ औरत के आगे जो चक्की पीसने और झाड़ू लगाने से अधिक कुछ नहीं जानती और यह नहीं समझती कि एक पढ़े-लिखे आदमी की भूख दो वक्त की रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी माँगती है!

उसकी खीझ एकाएक बढ़कर क्रोध बन गयी। स्त्री की ओर से आँख हटाकर वह सोचने लगा, इसका यह नाम किसने रखा? इन्दु! कैसा अच्छा नाम है - जाने किस बेवकूफ ने यह नाम इसे देकर डुबाया! और कुछ नहीं तो सुन्दर ही होती, रंग ही कुछ ठीक होता!

लेकिन जब यह पहले-पहल मेरे घर आयी थी, तब तो मुझे इतनी बुरी नहीं लगी थी! क्यों मैंने इसे कहा था कि मैं अपने जीवन का सारा, बोझ तुम्हें सौंपकर निश्चिन्त हो जाऊँगा - कैसे कह पाया था कि जो जीवन मुझसे अकेले

चलाये नहीं चलता, वह तुम्हारा साथ पाकर चल जाएगा? पर मैं तब इसे जानता कब था - मैं तो समझता था कि- रामलाल ने फिर एक तीखी दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और फौरन आँखें हटा लीं। तत्काल ही उसे लगा कि यह अच्छा हुआ कि इन्दु ने वह दृष्टि नहीं देखी। उसमें कुछ उस अहीर का-सा भाव था जो मंडी से एक हट्टी-कट्टी गाय खरीदकर लाये और घर आकर पाये कि वह दूध ही नहीं देती।

तभी गाड़ी की चाल फिर धीमी हो गयी। रामलाल अपने पड़ोसी गँवार की ओर देखकर सोच ही रहा था कि कौन-सी वीभत्स गाली हर स्टेशन पर खड़ी हो जानेवाली इस मनहूस गाड़ी को दे, कि तभी उसकी स्त्री ने बाहर झाँककर कहा, "स्टेशन आ गया!"

रामलाल की कुढ़न फिर भभक उठी। भला यह भी कोई कहने की बात है? कौन गधा नहीं जानता कि स्टेशन आ रहा है? अब क्या यह भी सुनना होगा कि गाड़ी रुक गयी। गार्ड ने सीटी दी। हरी झंडी हिल रही है। गाड़ी चल पड़ी...

लेकिन मैं इस पर क्यों खीझता हूँ? इस बिचारी का दिमाग जहाँ तक जाएगा, वहीं तक की बात वह करेगी न! अब मैं उससे आशा करूँ कि इस समय वह मेघदूत मुझे सुनाने लग जाए और वह इस आशा को पूरा न करे तो क्या कसूर है?

लेकिन मैंने उसे कभी कुछ कहा है? चुपचाप सब सहता आया हूँ। एक भी कठोर शब्द उसके प्रति मेरे मुँह से निकला हो तो मेरी जबान खींच ले। आखिर पढ़-लिखकर इतनी भी तमीज न आयी तो पढ़ा क्या खाक? समझदार का काम है सहना। मैंने उससे प्यार से कभी बात नहीं की; लेकिन जो हृदय में नहीं है, उसका ढोंग करना नीचता है। क्रोध को दबाने का यह मतलब थोड़े ही है कि झूठ-मूठ का प्यार दिखाया जाये?

गाड़ी रुक गयी। इन्दु ने बाहर की ओर देखते-देखते कहा, "प्यास लगी है..."

रामलाल को वह स्वर अच्छा नहीं लगा। उसमें जरा भी तो आग्रह नहीं था कि हे मेरे स्वामी, मैं प्यासी हूँ, मुझे पानी पिला दो! सीधे शब्दों में कहा नहीं तो खैर, वह वहाँ तो ध्वनि भी नहीं है। ऐसा कहा है, जैसे मैं जता देती हूँ कि मैं प्यासी हूँ - आगे कोई पानी ला देगा तो मैं पी लूँगी। नहीं तो ऐसे भी काम चल जाएगा। इतनी उत्सुक? मैं किसके लिए हूँ कि पानी लाने के लिए कह सकूँ? फिर भी रामलाल ने लोटा उठाया, बाहर झाँका और यह देखकर कि गाड़ी के पिछले सिरे के पास प्लेटफार्म पर कुछ लोग धक्कमधक्का कर रहे हैं और एक-आध जो जरा अलग हैं, कान में टँगा हुआ जनेऊ उतार रहे हैं, वह उतरकर उधर को चल पड़ा।

वह मुझे ही कह देती कि पानी ला दो, तो क्या हो जाता? मैं जो कुछ बन पड़ता है, उसके लिए करता हूँ। अब अधिक नहीं कमा सकता तो क्या करूँ? गाँव में गुंजाइश ही इतनी है। अब शहर में शायद कुछ हो-पर शहर में खर्च भी होगा।

मैं खर्च की परवाह न करके उसे अपने साथ लिए जा रहा हूँ - और होता तो गाँव में छोड़ जाता - शहर में अकेला आदमी कहीं भी रह सकता है, पर गृहस्थी लेकर तो...। और उसे इतना खयाल नहीं कि ठीक तरह बात ही करे, बात क्या करे, रोटी-पानी, पैसा माँग ही ले... क्या निकम्मेपन में भी अभिमान होता है?

रामलाल नल के निकट पहुँच गया।

गाड़ी ने सीटी दी और चल दी। रामलाल को यह नहीं सुनना पड़ा कि "हरी झंडी हिल रही है, गाड़ी चली" इन्दु ने कहा भी नहीं। गार्ड की सीटी हो जाने पर भी जब रामलाल नहीं पहुँचा, तब इन्दु खिड़की के बाहर उझककर उत्कंठा से उधर देखने लगी, जिधर वह गया था। गाड़ी चल पड़ी, तब उसकी उत्कंठा घोर व्यग्रता में बदल गयी। लेकिन तभी उसने देखा, एक हाथ में लोटा थामे रामलाल दौड़ रहा है। वह अपने डिब्बे तक तो नहीं पहुँच सकेगा, लेकिन पीछे के किसी डिब्बे में शायद बैठ गया।

इन्दु ने देखा कि रामलाल ने एक डिब्बे के दरवाजे पर आकर हैंडल पकड़ लिया है और उसी के सहारे दौड़ रहा है, लेकिन गाड़ी की गति तेज होने के कारण अभी चढ़ नहीं पाया। कहीं वह रह गये तब? क्षण-भर के लिए एक चित्र उसके आगे दौड़ गया - परदेस में वह अकेली - पास पैसा नहीं, और उससे टिकट तलब किया जा रहा है और वह नहीं जानती कि पति को कैसे सूचित करे कि वह कहाँ है। लेकिन क्षण-भर में ही इस डर का स्थान एक दूसरे डर ने ले लिया। कहीं वह उस तेज चलती हुई गाड़ी पर सवार होने के लिए कूदे और...।

यह डर उससे नहीं सहा गया। वह जितना बाहर झुक सकती थी, झुककर रामलाल को देखने लगी - उसके पैरों की गति को देखने लगी... और उसके मन में यह होने लगा कि क्यों उसने पति से प्यास की बात कही। यदि कुछ देर बैठी रहती तो मर न जाती...

एकाएक रामलाल गाड़ी के कुछ निकट आकर कूदा। इन्दु जरा और झुकी कि देखे, वह सवार हो गया कि नहीं और निश्चिन्त हो जाये। उसने देखा - अन्धकार - कुछ डुबता-सा - एक टीस - जाँघ और कन्धे में जैसे भीषण आग - फिर एक दूसरे प्रकार का अन्धकार।...

गाड़ी मानो विवश क्रोध से चिचियाती हुई रुकी कि अनुभूतियों से बँधे हुए इस क्षुद्र चेतन संसार की एक घटना के लिए किसी ने चेन खींचकर उस जड़, निरीह और इसलिए अडिग

रामलाल ने पास आकर देखा और रह गया! ऐसा बेबस, पत्थर रह गया कि हाथ का एक लोटा भी गिरना भूल गया। थोड़ी देर बाद जब जरा काँपकर इन्दु की एक आँख खुली और बिना किसी की ओर देखे ही स्थिर हो गयी और क्षीण स्वर ने कहा, "मैं चली", तब रामलाल को नहीं लगा कि वे दो शब्द विज्ञप्ति के तौर पर कहे गये हैं - उसे लगा कि उनमें खास कुछ है, जैसे वह किसी विशेष व्यक्ति को कहे गये हैं, और उनमें अनुमति माँगने का-सा भाव है...

शक्ति को क्यों रोक दिया है।

गाड़ी के रुकने का कारण समझ में उतरने से पहले ही रामलाल ने डिब्बे तक आकर देख लिया कि इन्दु उसमें नहीं है।

रेल का पहिया जाँघ और कन्धे पर से निकल गया था। एक आँख भी जाने क्यों बन्द होकर सूज आयी थी - बाहर कोई चोट दीख नहीं रही थी, और केश लहू में सनकर जटा-से हो गये थे।

रामलाल ने पास आकर देखा और रह गया! ऐसा बेबस, पत्थर रह गया कि हाथ का एक लोटा भी गिरना भूल गया।

थोड़ी देर बाद जब जरा काँपकर इन्दु की एक आँख खुली और बिना किसी की ओर देखे ही स्थिर हो गयी और क्षीण स्वर ने कहा, "मैं चली"। तब रामलाल को नहीं लगा कि वे दो शब्द विज्ञप्ति के तौर पर कहे गये हैं - उसे लगा कि उनमें खास कुछ है, जैसे वह किसी विशेष व्यक्ति को कहे गये हैं, और उनमें अनुमति माँगने का-सा भाव है...

उसने एकाएक चाहा कि बढ़कर लोटा इन्दु के मुँह से छुआ दे, लेकिन लोटे का ध्यान आते ही वह उसके हाथ से छूटकर गिर गया।

रामलाल उस आँख की ओर देखता रहा, लेकिन फिर वह झिपी नहीं। गाड़ी चली गयी। थोड़ी देर बाद एक डॉक्टर ने आकर एक बार शरीर की ओर देखा, एक बार रामलाल की ओर, एक बार फिर उस खुली आँख की ओर, और फिर धीरे से पल्ला खींचकर इन्दु का मुँह ढक दिया।

गाड़ी जरा-सी देर रुककर चली गयी थी। दुनिया जरा भी नहीं रुकी। गाड़ी आदमी की बनायी हुई थी, दुनिया को बनानेवाला ईश्वर है।

बीस साल हो गये। घिरती रात में हरेक स्टेशन पर रुकनेवाली एक गाड़ी के सेकंड क्लास डिब्बे में रामलाल लेटा हुआ था। वह कलकत्ते से रुपया कमाकर लौट रहा था। आज उसके मन में गाड़ी पर खीझ नहीं थी। आज वह यात्रा पर जा नहीं रहा था, लौट रहा था। और वह थका हुआ था।

एक छोटे स्टेशन पर वह एकाएक भड़भड़ाकर उठ बैठा। बाहर झाँककर देखा, कहीं कोई कुली नहीं था। वह स्वयं बिस्तर और बैग बाहर रखने लगा। तभी, स्टेशन के पाइंटमैन ने आकर कहा, "बाबूजी, कहाँ जाइएगा?" छोटे स्टेशनों पर लाइनमैन और पाइंटमैन ही मौके-बे-मौके कुली का काम कर देते हैं। रामलाल ने कहा,"यहीं एक तरफ करके रख दो।"

"और कुछ सामान नहीं है?"
"बाकी ब्रेक में है, आगे जाएगा।"
"अच्छा।"

गाड़ी चली गयी। बूढ़े पाइंटमैन ने सामान स्टेशन के अन्दर ठीक से रख दिया। रामलाल बेंच पर बैठ गया। स्टेशन के एक कोने में एक बड़ा लैम्प जल रहा था, उसकी ओर पीठ करके जाने क्या सोचने लग गया, भूल गया कि कोई उसके पास खड़ा है।

बूढ़े ने पूछा, "बाबूजी, कैसे आना हुआ?" ऐसा बढ़िया सूट-बूट पहननेवाला आदमी उसने उस स्टेशन पर पहले नहीं देखा था।

'यों ही।"
"ठहरिएगा?"
"नहीं। अगली गाड़ी कब जाती है?"
"कल सवेरे। उसमें जाइएगा?"
"हाँ।"
"इस वक्त बाहर जाइएगा?"
"नहीं।"
"लेकिन यहाँ तो वेटिंग रूम नहीं है-"
"यहीं बेंच पर बैठा रहूँगा।"

बूढ़ा मन में सोचने लगा, यह अजब आदमी है, जो बिना वजह रात-भर यहाँ ठिठुरेगा और सवेरे चला जाएगा! पर अब रामलाल प्रश्न पूछने लगा-

"तुम यहाँ कबसे हो?"

"अजी, क्या बताऊँ, सारी उमर यहीं कटी है।"

"अच्छा! तुम्हारे होते यहाँ कोई दुर्घटना हुई?"

"नहीं-" कहकर बूढ़ा रुक गया। फिर कहने लगा, "हाँ, एक बार एक औरत रेल के नीचे आकर कट गयी थी-उधर प्लेटफार्म से जरा आगे।"

"हूँ।" रामलाल के स्वर में जैसे अरुचि थी, लेकिन बूढ़े अपने-आप-ही उस घटना का वर्णन करने लगा।

"कहते हैं, उसका आदमी यहाँ पानी लेने के लिए उतरा था, इतनी देर में गाड़ी चल पड़ी। वह बैठने के लिए गाड़ी के साथ दौड़ रहा था, औरत झाँककर बाहर देख रही थी कि बैठ गया या नहीं, तभी बाहर गिर पड़ी और कट गयी।"

"हूँ।"

थोड़ी देर बाद बूढ़े ने फिर कहा - "बाबूजी, औरत-जात भी कैसी होती है! भला वह गाड़ी से रह जाता तो कौन बड़ी बात थी! दूसरी में आ जाता। लेकिन औरत का दिल कैसे मान जाये-"

रामलाल ने जेब से चार आने पैसे निकालकर उसे देते हुए संक्षेप में कहा - "जाओ।"

"बाबूजी-"

रामलाल ने टाँगें बेंच पर फैलाते हुए कहा, "मैं सोऊँगा।"

बूढ़ा चला गया। जाता हुआ स्टेशन का एकमात्र लैम्प भी बुझा गया - अब उसकी

कोई जरूरत नहीं थी।

रामलाल उठकर प्लेटफार्म पर टहलने लगा और सोचने लगा...

उसने पानी नहीं माँगा था, लेकिन अगर मैंने ही कह दिया होता कि मैं अभी लाये देता हूँ पानी, तो - तो-

आदमी जब चाहता है जीवन के बीस वर्षों को बीस मिनट - बस सेकेंड में जी डालना; और वह बीस सेकेंड भी ऐसे जो आज के नहीं हैं, बीस वर्ष पहले के हैं, मर चुके हैं, तब उसकी आत्मा का अकेलापन कहा नहीं जा सकता, अँधेरे में ही कुछ अनुभव किया जा सकता है...

रामलाल स्टेशन का प्लेटफार्म पार करके रेल की पटरी के साथ हो लिया। एक सौ दस कदम चलकर वह रुका और पटरी की ओर देखने लगा। उसे लगा, पटरी के नीचे लकड़ी के स्लीपरों पर जैसे खून के पुराने धब्बे हैं। वह पटरी के पास ही बैठ गया। लेकिन बीस वर्ष में तो स्लीपर कई बार बदल चुकते हैं। ये धब्बे खून के हैं, या तेल के?

रामलाल ने चारों ओर देखा। वही स्थान है - वही स्थान है। आस-पास के दृश्य अधिक उसका मन गवाही देता है।

और रामलाल घुटनों पर सिर टेककर, आँखें बन्द करके पुराने दृश्यों को जिलाता है। वह कठोर एकाग्रता से उस दृश्य को सामने लाना चाहता है - नहीं, सामने आने से रोकना चाहता है - नहीं, वह कुछ भी नहीं चाहता, वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है या नहीं चाहता है। उसने अपने आपको एक प्रेत को समर्पित कर दिया है। जीवन में उससे खिंचे रहने का यही एक प्रायश्चित्त उसके पास है। और इस समय स्वयं मिट्टी होकर, स्वयं प्रेत होकर, वह मानो उससे एक हो लेना चाहता है, उससे कुछ आदेश पा लेना चाहता है...

जाने कितनी बार वह चौंकता है। सामने कहीं से रोने की आवाज आ रही है - एक औरत के रोने की। रामलाल उठकर चारों ओर देखता है, कहीं कुछ नहीं दीखता। आवाज निरन्तर आती है। रामलाल आवाज की ओर चल पड़ता है - जो स्टेशन से परे की ओर है...

इन्दु कभी रोयी थी? उसे याद नहीं आता। लेकिन यह कौन है जो रो रहा है? और इस आवाज में यह कशिश क्यों है...

"कौन है?"

कोई उत्तर नहीं मिलता। दो-चार क़दम चलकर रामलाल कोमल स्वर में फिर पूछता है, "कौन रोता है?" रेल की पटरी के पास से कोई उठता है। रामलाल देखता है। किसी गाढ़े रंग के आवरण में बिलकुल लिपटी हुई एक स्त्री। उसे पास आता देखकर जल्दी से एक ओर को चल देती है और क्षण-भर में झुरमुट की ओट हो जाती है। रामलाल पीछा भी करता है, लेकिन अन्धकार में पीछा करना व्यर्थ है - कुछ दीखता ही नहीं।

रामलाल पटरी की ओर लौटकर वह स्थान खोजता है, जहाँ वह बैठी थी। क्या यहीं पर? नहीं, शायद थोड़ा और आगे। यहाँ पर? नहीं, थोड़ा और आगे।

उसका पैरा किसी गुदगुदी चीज से टकराता है। वह झुककर टटोलता है - एक कपड़े की पोटली। बैठकर खोलने लगता है। पोटली चीख उठती है। काँपते हाथों से उठकर वह देखता है, पोटली एक छोटा-सा शिशु है जिसे उसने जगा दिया है।

वह शिशु को गोद में लेकर थपथपाता हुए स्टेशन लौट आता है और बेंच पर बैठ जाता है। घड़ी देखता है, तीन बजे हैं। पाँच बजे गाड़ी मिलेगी। अपने ओवर कोट से वह बच्चे को ढँक लेता है-दो घंटे के लिए इतना प्रबन्ध काफ़ी है। गाड़ी में बिस्तर खोला जा सकेगा...

रामलाल ने अपने गाँव में एक पक्का मकान बनवा दिया है और उसी में रहता है। साथ रहती है वह पायी हुई शिशु-कन्या जिसका नाम उसने इन्दुकला रखा है, और उसकी आया, जो दिन-भर उसे गाड़ी में फिराया करती है।

गाँव के लोग कहते हैं, कि रामलाल पागल है। पैसे वाले भी पागल होते हैं। और इन्दु जहाँ-जहाँ जाती है, वे उँगली उठाकर कहते हैं - "वह देखो, उस पागल बूढ़े की बेटी।" इसमें बड़ा गूढ़ व्यंग्य होता है, क्योंकि वे जानते हैं

रामलाल स्टेशन का प्लेटफार्म पार करके रेल की पटरी के साथ हो लिया। एक सौ दस कदम चलकर वह रुका और पटरी की ओर देखने लगा। उसे लगा, पटरी के नीचे लकड़ी के स्लीपरों पर जैसे खून के पुराने धब्बे हैं। वह पटरी के पास ही बैठ गया। लेकिन बीस वर्ष में तो स्लीपर कई बार बदल चुकते हैं। ये धब्बे खून के हैं, या तेल के? रामलाल ने चारों ओर देखा। वही स्थान है - वही स्थान है। आस-पास के दृश्य से अधिक उसका मन गवाही देता है। और रामलाल घुटनों पर सिर टेककर, आँखें बन्द करके पुराने दृश्यों को जिलाता है। वह कठोर एकाग्रता से उस दृश्य को सामने लाना चाहता है - नहीं, सामने आने से रोकना चाहता है - नहीं, वह कुछ भी नहीं चाहता, वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है या नहीं चाहता है। उसने अपने आपको एक प्रेत को समर्पित कर दिया है। जीवन में उससे खिंचे रहने का यही एक प्रायश्चित उसके पास है। और इस समय स्वयं मिट्टी होकर, स्वयं प्रेत होकर, वह मानो उससे एक हो लेना चाहता है, उससे कुछ आदेश पा लेना चाहता है...

कि बूढ़ा रामलाल किसी के पाप का बोझ ढो रहा है। लेकिन रामलाल को किसी की परवाह नहीं है, वह निर्द्वन्द्व है। उसके हृदय में विश्वास है। वह खूब जानता है कि उसकी क्षमाशीला इन्दु ने स्वयं प्रकट होकर अपने स्नेहपूर्ण अनुकम्पा के चिह्न स्वरूप अपना अंश और प्रतिरूप वह बेटी उसे भेंट की थी।

खेल

– जैनेंद्र कुमार

मौन-मुग्ध संध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गंगा के निर्जन बालुकास्थल पर एक बालक और बालिका सारे विश्व को भूल, गंगा-तट के बालू और पानी से खिलवाड़ कर रहे थे।

बालक कहीं से एक लकड़ी लाकर तट के जल को उछाल रहा था। बालिका अपने पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते बालिका भाड़ से बोली- "देख ठीक नहीं बना, तो मैं तुझे फोड़ दूंगी।" फिर बड़े प्यार से थपका-थपकाकर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी- "इसके ऊपर मैं एक कुटी बनाउंगी, वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर...? नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जाएगा, बहुत कहेगा, तब मैं उसे अपनी कुटी के भीतर ले लूंगी।

मनोहर उधर पानी से हिल-मिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी- "मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दंगाई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अबके दंगा करेगा, तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा, तो उससे शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे।' बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया-'भाड़ की छत तो गरम हो गई होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे?' फिर सोचा-'उससे मैं कह दूंगी, भाई, छत बहुत तप रही है। तुम जलोगे, तुम मत आओ। पर वह अगर नहीं माना, मेरे पास वह बैठने को आया ही, तो मैं कहूंगी, भाई, ठहरो, मैं ही बाहर आती हूं। पर वह मेरे पास आने की जिद करेगा क्या...? जरूर करेगा, वह बड़ा हठी है। ...पर मैं उसे आने नहीं दूंगी। बेचारा तपेगा - भला कुछ ठीक है! ...ज्यादा कहेगा, तो मैं धक्का दे दूंगी, और कहूंगी, अरे, जल जाएगा मूर्ख!'

यह सोचने पर उसे बड़ा मजा-सा आया, पर उसका मुंह सूख गया। उसे मानो सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भांति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो-एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा-भाड़ अब बिलकुल बन गया है। मां जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच लिया। इस क्रिया

"यह संसार क्षणभंगुर है। इसमें दुख क्या और सुख क्या : जो जिससे बनाया गया है वह उसी में लय हो जाता है-इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है? यह संसार जल का है, किसी रोज जल में मिल जाने में ही बुदबुदे की सार्थकता है। बुदबुदा फूटकर जाएगा। जो यह नहीं समझते, वे दया के पात्र हैं। री, मूर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्मांड ब्रह्म का है, और उसी में लीन हो जाएगा। इससे तू किसलिए व्यर्थ व्यथा सह रही है? रेत का तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर तोड़ा है वह तो परमात्मा का केवल साधन मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है? परमात्मा इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुंचने का प्रयास कर। आदि-आदि।"

में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पांव ही पर तो भाड़ टिका है, उसी का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े पैर साफ निकालने पर भाड़ जब ज्यों का त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका एकबारगी ही बेवकूफ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है, यहां कैसी जबरदस्त कारगुजारी हुई है-सो नहीं देखता! ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है!

पर सोचा-अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूं। यह सोचकर बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे से भाड़ के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे छोड्कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला, एक कमी रह गई। धुआ कहां से निकलेगा? तनिक सोचकर उसने एक सींक टेढ़ी करके उसमें गाड़ दी। बस, ब्रह्मांड का सबसे संपूर्ण भाड़ और विश्व की सबसे सुंदर वस्तु तैयार हो गई।

वह उस उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व कारीगरी का दर्शन कराएगी पर अभी जरा थोड़ा देख तो और ले। सुरबाला मुंह बाए, आँखें स्थिर करके इस भाड़-श्रेष्ठ को देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहां विराजते हैं, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताए इस भाड़ के जादू में।

मनोहर अपनी 'सुरी-सुरो-सुर्री' की याद कर, पानी से नाता तोड़, हाथ की लकड़ी को भरपूर जोर से गंगा की धारा में फेंककर जब मुड़ा, तब सुश्री सुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्म लीला के जादू को बूझने और सुलझने में लगी हुई थीं।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा-श्रीमती जी बिलकुल अपने भाड़ में अटकी हुई हैं। उसने जोर से कहकहा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया।

न जाने क्या किला फतह किया हो, ऐसे गर्व से भरकर निर्दयी मनोहर चिल्लाया, "सुर्रो रानी!"

सुर्रो रानी मूक खड़ी थीं। उनके मुंह पर जहां अभी परम विशुद्ध रस था, वहां एक शून्य फैल गया। रानी के सामने एक स्वर्ग आ खड़ा हुआ था। वह उन्हीं के हाथों का बनाया हुआ था और वह एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर उस स्वर्ग की एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता को दिखलाना चाहती थीं। हा, हंत ! वही व्यक्ति आरग और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गई।

हमारे विद्वान पाठकों में से कोई होता, तो उन मूर्खों को समझाता-यह संसार क्षणभंगुर है। इसमें दुख क्या और सुख क्या : जो जिससे बनाया गया है वह उसी में लय हो जाता है- इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है? यह संसार जल का है, किसी रोज जल में ही मिल जाने में ही की बुदबुदा फूटकर जाएगा। फूट बुदबुदे

सार्थकता है। जो यह नहीं समझते, वे दया के पात्र हैं। री, मर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्मांड ब्रह्म का है, और उसी में लीन हो जाएगा। इससे तू किसलिए व्यर्थ व्यथा सह रही है? रेत का तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर तोड़ा है वह तो परमात्मा का केवल साधन मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है? परमात्मा इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुंचने का प्रयास कर। आदि-आदि।

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ धीमान पंडित तत्वोपदेश के लिए गंगा तट पर नहीं पहुंच सका। हमें यह भी संदेह है कि सुर्री एकदम इतनी जड़-मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत पंडित परमात्म-निर्देश से वहां पहुंचकर उपदेश देने भी लगते तो वह उनकी बात को नहीं सुनती और न समझती।

पर, अब तो वहां निर्बुद्धि शठ मनोहर के सिवा

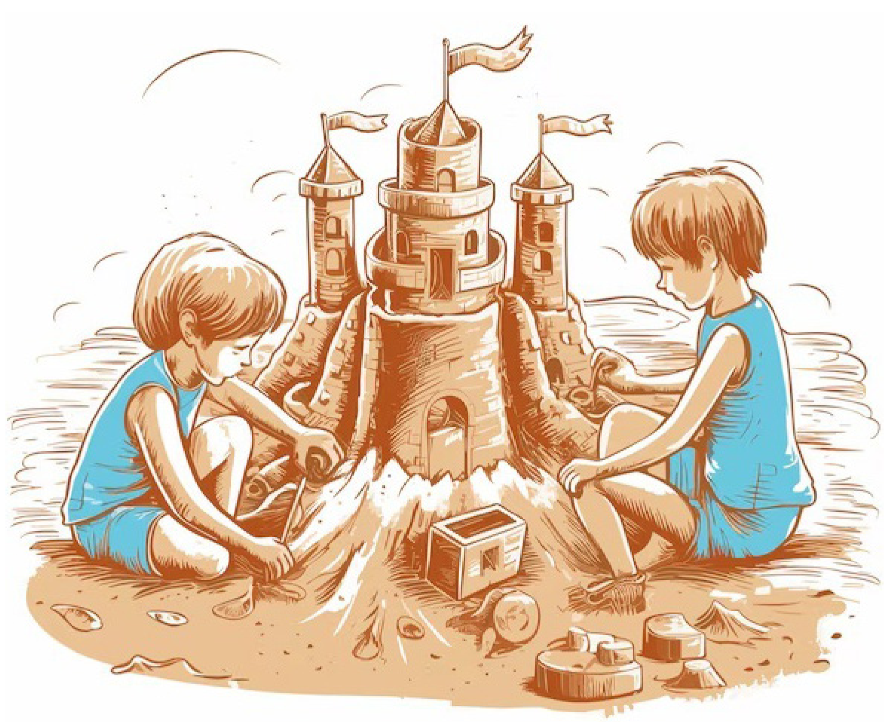

कोई नहीं है, और मनोहर विश्व-तत्व की एक भी बात नहीं जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई जैसे उसे भीतर-ही-भीतर मसोले डालता रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा, सुर्री, दुत्त पगली! रूठती है? "

सुरबाला वैसे ही खड़ी रही।

"सुर्री, रूठती क्यों है? "

बाला तनिक न हिली।

"सुरी सुरी .. ओ, सुरी"

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज हठात कंपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुंह फेरकर खड़ी हो गई। स्वर के इस कंपन का सामना

शायद उससे न हो सका।

"सुरी-ओ सुरिया मैं मनोहर हूं मनोहर! मुझे मारती नहीं!"

यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

"हम नहीं बोलते।" बालिका से बिना बोले रहा न गया। उसका भाड़ शायद स्वर्गविलीन हो गया। उसका स्थान और बाला की सारी दुनिया का स्थान कांपती हुई मनोहर की आवाज ने ले लिया।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा, सुरी, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा दुष्ट है। बोल मत, पर उस पर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा-वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।"

बाला ने कड़ककर कहा, "चुप रहो !"

"चुप रहता हूं पर मुझे देखोगी भी नहीं ?"

"नहीं देखते।"

"अच्छा मत देखो। मत ही देखो। मैं अब कभी सामने न आऊंगा, मैं इसी लायक हूं।"

"कह दिया तुमसे, तुम चुप रहो। हम नहीं बोलते।"

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का खत्म हो चुका था। वह तो पिघलकर बह चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो ब्याज-कोप का रूप धर बैठा था। दूसरे शब्दों में यह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला, "लो सुरी, मैं नहीं बोलता। में बैठ जाता हूं। यहीं बैठा रहूंगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूंगा न बोलूंगा।"

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली, "हमारा भाड़ क्यों तोड़ा? हमारा भाड़ बना के दो !"

"लो अभी लो।"

"हम वैसा ही लेंगे।"

- वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।"

उसपै हमारी कुटी थी, उसपै धुएं का रास्ता था।"

"लो, सब लो। तुम बताती जाओ, मैं बनाता जाऊं।"

"हम नहीं बताएंगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा, तुम्हीं बनाओ।"

"अच्छा, पर तुम इधर देखो तो।"

"हम नहीं देखते, पहले भाड़ बना के दो।"

मनोहर ने एक भाड़ बनाकर तैयार किया। कहा, "लो, भाड़ बन गया।"

"बन गया ?"

"हां।"

"धुएं का रास्ता बनाया? कुटी बनाई ?"

"सो कैसे बनाऊं-बताओ तो।"

"पहले बनाओ तब बताऊंगी।"

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक-एक पत्ते की ओट लगाकर कहा, "बना दिया।"

तुरंत मुड़कर सुरबाला ने कहा, "अच्छा दिखाओ।"

"सींक ठीक नहीं लगी जी", "पत्ता ऐसे लगेगा" आदि-आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर

बालिका ने दो-एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा-भाड़ अब बिलकुल बन गया है। मां जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच लिया। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पांव ही पर तो भाड़ टिका है, उसी का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े पैर साफ निकालने पर भाड़ जब ज्यों का त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

को हुकुम हुआ-

"थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिर पर डालेंगे।"

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से कर-पात्रों द्वारा - वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुरा रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया।

सुरबाला रानी हंसी से नाच उठी। मनोहर उत्फुल्लुता से कहकहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रांत में वह निर्मल शिशु हास्य-रव लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों जैसे लाल-लाल मुंह से गुलाबी-गुलाबी हँसी हँस रहे थे। गंगा मानो जान-बूझकर किलकारियां भर रही थी।

और वे लंबे ऊंचे-ऊंचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पंडितों की भांति, सब हास्य की सार-शून्यता पर मानो मन-ही-मन गंभीर तत्वालोचन कर, हँसी में भूले हुए मूर्खों पर थोड़ी दया बखाना चाह रहे थे!

गुरु-मंत्र

– सुदर्शन

> मेरी परीक्षा बड़ी कठिन थी। बड़े- बड़े साधु-सन्त भी कदाचित् इसमें सफल न होते, परन्तु तू सबमें उत्तीर्ण हो गया। तूने काले कोसों की यात्रा की और सिद्ध कर दिया कि तेरा हृदय श्रद्धा का सागर है। तूने सिद्ध कर दिया कि तुझमें सेवा-भाव है। तूने युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त की, जो इस बात का प्रमाण है कि तू वीरात्मा है और तुझे मृत्यु का भय नहीं। और फिर दीवान की पदवी को ठुकरा दिया। कोई लोभी ऐसे अवसर पर फूला न समाता। वह त्याग-भाव कितना पवित्र, कितना महान है। परन्तु मैंने तुझे उस समय भी गुरु-मंत्र न दिया, क्योंकि अभी एक परीक्षा बाकी थी। आज वह भी समाप्त हो गई। मैं देखना चाहता था कि तुझमें एकाग्रता है या नहीं, जिसके बिना ईश्वर भक्ति के मार्ग पर दो पग चलना भी असम्भव है। मैं आया, मैंने तुझे आवाजें दीं, मैंने तेरा प्रकाश रोक लिया, परन्तु तुझे मालूम भी न हुआ। यह थी एकाग्रता की पराकाष्ठा। अब मैं तुझे गुरु-मंत्र देने को तैयार हूँ। मुझे तेरे जैसे शिष्य पर गर्व है।

आधी रात के समय नवयुवक एकनाथ ने बहुत धीरे से अपने मकान का दरवाजा खोला और बाहर निकल आया। गली, बाजार, गाँव - सब सुनसान और अंधकारमय थे। एकनाथ ने एक क्षण के लिए ठहरकर अपने घर की तरफ देखा, अपने बूढ़े बाबा और निर्बल दादी का खयाल किया, अपने मित्र - बन्धुओं के विषय में सोचा और उसकी आँखों में पानी आ गया। मगर यह निर्बलता कुछ ही क्षणों के लिए थी, जैसे कभी-कभी पंछी पर खोलते समय रुक जाता है। एकाएक उसने आँसू पोंछ डाले और जल्दी-जल्दी पाँव उठाता हुआ गाँव से बाहर चला गया। पिंजरे में दाना-पानी सब कुछ था, परन्तु पंछी ने किसी की भी परवाह न की और उड़ गया। चारों ओर अँधेरा था। दूर काले वृक्षों की काली छाया तले कुत्तों और गीदड़ों के रोने की आवाजें सुनाई दे रही थीं। घर में बूढ़े बाबा और दादी का वात्सल्य बेसुध पड़ा था, मगर एकनाथ सम्पूर्ण दृढ़ता से झाड़ियों में उछलता हुआ, गड्ढों में गिरता हुआ, पत्थरों से ठोकरें खाता हुआ आगे चला जाता था और उसे इस बात की जरा भी चिन्ता न थी कि मार्ग भयानक है और रात के अँधेरे में कई बलाएँ छिपी हो सकती हैं।

प्रात:काल जब दो बूढ़ों के हृदय-विदारक आर्तनाद से पैठन गाँव में कुहराम मचा हुआ था, वह कई कोस की यात्रा समाप्त कर चुका और एक नदी के किनारे बैठा अपने पाँव धो रहा था, जिन्हें जंगल के काँटों ने लहूलुहान कर दिया था। उसकी देह रतजगी यात्रा से थककर चूर-चूर हो रही थी। परन्तु उसके विचार आशा के आकाश में उड़े चले जाते थे और उन्हें रोकने की शक्ति पृथ्वी की किसी भी वस्तु में न थी। थोड़ी देर बाद वह उठा और अपने गाँव की तरफ मुँह करके खड़ा हो गया। इस समय वह अपने घर की दशा पर चिन्तन कर रहा था और अपनी आन्तरिक आँखों से वहाँ के दृश्य देख रहा था। हम अपना घर छोड़ सकते हैं, परन्तु उसकी स्मृति को भूलना आसान नहीं।

इतने में एक मुसाफिर घोड़े पर सवार उधर से गुजरा और एकनाथ के पास पहुँचकर रुक गया। एकनाथ ने दोनों हाथ बाँधकर अभिवादन किया। मुसाफिर ने आशीर्वाद दिया और पूछा - "कहाँ जाओगे, भैया?"

एकनाथ ने अपने गाँव की ओर पीठ मोड़ ली और अपने सम्मुख फैले हुए विस्तृत जंगल की तरफ उँगली उठाकर उत्तर दिया - "बड़ी दूर!"

मुसाफिर - "मगर फिर भी कहाँ?"

एकनाथ - "श्रीगुरुजी के चरणों में।"

मुसाफिर घोड़े से उतर आया और एकनाथ के कंधे पर स्नेह से अपना हाथ रखकर बोला - "तुम्हारा गुरु कौन है?"

एकनाथ - "पण्डित जनार्दन पन्त।"

यह कहकर एकनाथ ने दोनों हाथ बाँधकर नम्रता से सिर झुका लिया जैसे वह इस समय भी गुरु के सामने खड़ा था।

मुसाफिर को नवयुवक की श्रद्धा पर आश्चर्य हुआ - "कौन जनार्दन पन्त? क्या वही तो नहीं जो देवगढ़ के दीवान हैं?"

एकनाथ - "जी हाँ, वही महात्मा जिनके सदृश दूसरा आत्मसंयमी आज सारे भारतवर्ष में नहीं है। क्या आपने उनके दर्शन किए हैं?"

यह कहकर उसने मुसाफिर की ओर बड़ी उत्सुकता से देखा।

मुसाफिर - "हाँ, कई बार दर्शन किए हैं, परंतु वे तो किसी को गुरु-मंत्र नहीं देते, न मैंने उनके यहाँ कोई शिष्य देखा है। मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने तुम्हें कैसे चेला बना लिया।"

एकनाथ - (उदास होकर) "उन्होंने मुझे चेला नहीं बनाया।"

मुसाफिर - "अरे!"

एकनाथ - "मगर मैंने उनको गुरु बना लिया। अब जाकर श्रीचरणों में लेट जाता हूँ। देखूँगा कैसे कृपा नहीं करते?"

मुसाफिर - "तुम्हारी आयु थोड़ी है अभी।"

एकनाथ - "समझदार के लिए थोड़ी भी बहुत है।"

मुसाफिर - " क्या तुम्हें संसार का अनुभव है?"

एकनाथ - "गुरुजी की कृपादृष्टि से अनुभव भी हो जाएगा।"

मुसाफिर - "यह मार्ग बड़ा विकट है।"

एकनाथ - "साहस हो तो सारे काम बन जाते हैं।"

मुसाफिर ने हँसकर कहा - "मगर बेटा! देवगढ़ तक कैसे पहुँचोगे? बड़ी दूर है यहाँ से।"

एकनाथ - "जिनके दिल को लगी हो, उनके लिए दूरी कोई चीज नहीं है।"

मुसाफिर - "कोई घोड़ा क्यों नहीं ले लेते?"

एकनाथ - "गुरुजी के पास नंगे पाँव ही जाना ठीक है।"

मुसाफिर ने यह बातें सुनीं तो बड़ा खुश हुआ। उसने दुनिया देखी थी, मगर ऐसा नवयुवक उसकी आँखों से आज तक न गुजरा था। यह नवयुवक न था, श्रद्धा और पुरुषार्थ की जीती-जागती मूर्ति था। उसने एकनाथ को प्रेम से देखा और घोड़े पर सवार होकर चल दिया।

कितने कष्ट सहकर, कितने संकट झेलकर एकनाथ देवगढ़ पहुँचा, इसका अनुमान करना आसान नहीं। परन्तु देवगढ़ पहुँचकर उसको वह सारे कष्ट भूल गए। प्यासा हरिण जल की खोज में कितना भागता है, कैसे घबराता है, उसका शरीर थककर पसीना-पसीना हो जाता है, परन्तु जल के समीप पहुँचकर उसकी सारी थकान जाती रहती है, वहाँ जाकर उसका कुम्हलाया हुआ हृदय-कमल देखते-देखते खिल उठता है। एकनाथ की भी यही दशा थी। वह अब गुरुजी की नगरी में आ पहुँचा था। वह स्वर्गीय स्वप्नों की पुण्यभूमि में आ गया था, जिसके लिए उसकी आँखें तरसती थीं।

तीसरे पहर का समय था, एकनाथ पण्डित जनार्दन पन्त की सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय पण्डितजी सरकारी कागज देखने में तन्मय हो रहे थे। एकनाथ चुपचाप एक कोने में खड़ा हो गया और भक्त-भाव से उनकी ओर देखने लगा। यही वह व्यक्ति है जो संसार और संसार के व्यवहार में रहते हुए भी संसार से बाहर है, जो गृहस्थ होते हुए भी अपने युग का सबसे बड़ा भक्त है, जो देवगढ़ का दीवान भी है, सूरमा सिपाही भी है, सेनापति भी है और पण्डित भी है। यही वह राजभक्त है, जिसका हिन्दू-मुसलमान दोनों सम्मान करते हैं, जिसके सामने सिर उठाने की बादशाह को भी मजाल नहीं। एकनाथ गदगद हो गया। उसकी आँखों में पानी भर आया।

सहसा पण्डितजी ने सिर उठाया और एकनाथ की तरफ देखा। एकनाथ के शरीर में बिजली की लहर-सी दौड़ गई। यह तो वही मुसाफिर थे जो उसे अपने गाँव के पास मिले थे, जो हँस-हँसकर बातें कर रहे थे, जिनकी आँखों में मन को मोहने वाली शक्ति भरी थी। एकनाथ दौड़कर आगे बढ़ा और पण्डितजी के चरणों से लिपट गया। इस समय उसके आँसू पण्डितजी के पाँव पर गिर रहे थे। मगर यह आँसू साधारण आँसू न थे। एकनाथ का प्रेम था, जो अपने गुरु के श्रीचरणों पर निछावर हो रहा था। यह उसकी श्रद्धा थी जो अपने देवता को रिझाने के लिए हृदय-गृह से चली थी।

पण्डितजी ने उसे पाँव से उठाया और उद्दण्ड से उद्दण्ड पुरुष को भी बस में कर लेने वाले ढंग से मुस्कराकर कहा - "आखिर तुम यहाँ आ गए? मगर बहुत कष्ट हुआ होगा?"

एकनाथ ने उनके पाँव की तरफ देखते हुए उत्तर दिया - "श्रीचरणों के दर्शन करके सारा कष्ट भूल गया।"

पण्डितजी - "तो अब क्या इच्छा है?"

एकनाथ - "भगवान् सब कुछ जानते हैं, अपने मुँह से क्या कहूँ?"

आधी रात बीत गई, एकनाथ ने सारा काम समाप्त कर लिया। सब कुछ ठीक था, केवल एक पैसे का फर्क था। एकनाथ के तेवर बदल गए। सोचने लगा, जरा-सी भूल ने सारा काम चौपट कर दिया। उसने रकमों को दूसरी बार जमा किया। फिर वही फर्क। फिर हिसाब किया। पर फर्क फिर भी न निकला। एक पैसे का अन्तर ज्यों-का-त्यों था। एकनाथ घबरा गया। रात आधी से भी अधिक जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। लोग अपने-अपने घरों में सुख-चैन की नींद सो रहे थे, मगर एकनाथ शमादान के सामने बैठा था और सोचता था कि पैसे का फर्क कहाँ है?

पण्डितजी - "गुरु-मंत्र चाहते हो क्या?''

एकनाथ - "यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न है।"

पण्डितजी - "मैं साधारण गृहस्थी हूँ, मुझसे तुम्हारा कल्याण क्या होगा? किसी परमहंस के पाँव क्यों नही पकड़ते? बेड़ा पार हो जाए।"

एकनाथ - "मैंने इस युग का सबसे बड़ा परमहंस पा लिया, अब और कहाँ जाऊँ? आप गृहस्थी हैं, परंतु आपकी पदवी साधु-संन्यासियों से भी ऊँची है।"

पण्डितजी - "यह तुम्हारी श्रद्धा है। मैं तो राजा का एक मामूली नौकर हूँ।" एकनाथ - " मगर मेरे लिए तो आप राजाओं के भी राजा हैं।"

यह कहकर एकनाथ फिर झुका और पण्डितजी के पाँव में लेट गया। पण्डितजी निरुत्तर हो गए। विनय और श्रद्धा के सामने तर्क की बोली पेश नहीं जाती। देवगढ़ के दीवान साहब एक साधारण ग्रामीण नवयुवक के सामने चुप थे और न जानते थे कि उसे कैसे समझाएँ। कुछ सोचकर उन्होंने उसे उठाया और गंभीरता से कहा - "हमें गुरु-मंत्र देने में आपत्ति नहीं, परन्तु पहले तुम्हें सिद्ध करना होगा कि तुम इसके अधिकारी हो। कहो, परीक्षा के लिए तैयार हो?''

एकनाथ ने सिर झुकाकर उत्तर दिया - "जी हाँ! बड़ी खुशी से।"

यह कहकर उसने गुरु के पाँव तले से मिट्टी उठाई और माथे पर मल ली, मानो यह मिट्टी न थी, चंदन का बुरादा था।

तीन वर्ष बीत गए। एकनाथ ने गुरुजी की सेवा में दिन-रात एक कर दिया। ऐसी लगन से किसी बिके हुए दास ने भी अपने स्वामी की सेवा न की होगी। वह उनके कपड़े धोता था, उनके लिए धान कूटता था, पानी भरता था, बाल-बच्चों को खिलाता था और इतना ही नहीं उनके दफ्तर का सारा काम अपने हाथ से करता था।

दीवान साहब अब हिसाब आदि बहुत कम देखते थे, सारा स्याह-सफ़ेद एकनाथ के हाथ में था। रियासत के लोग इसकी ईश्वरदत्त योग्यता और कार्यपटुता देखकर वाह-वाह करते थे, यहाँ तक कि राजा भी उसकी प्रशंसा करता था। मगर एकनाथ को इस पर तनिक भी अभिमान न था। वह समझता था, गुरुजी परीक्षा ले रहे हैं। पास हो गया तो जन्म-मरण के फंदे से मुक्त जा जाऊँगा।

प्रात:काल था, पण्डितजी अपने मंदिर में बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और एकनाथ बाहर खड़ा था कि कोई विघ्न न डाल दे। इतने में घोड़ों की टापों का शब्द सुनाई दिया। एकनाथ डर गया। उसे भय हुआ कि कहीं इससे गुरुजी की समाधि न खुल जाए। उनका ध्यान टूट गया तो क्या जवाब दूँगा। वह जल्दी से बाहर निकला कि सवार को रोक दे। पर वह सवार कोई साधारण सवार न था। वह शाही सवार था, जो राजा का खास परवाना लेकर आया था। एकनाथ ने आगे बढ़कर कहा - "गुरुजी ईश्वर का भजन कर रहे हैं। नीचे उतर आओ।"

सवार घोड़े से नीचे उतर आया और जेब से एक मुहर वाला लिफ़ाफ़ा निकालकर बोला - "यह शाही परवाना है। अभी दीवान साहब के पास पहुँचा दो।" एकनाथ ने लिफ़ाफ़ा ले लिया और उत्तर दिया - "वह तो समाधि में हैं।"

सवार - "कोई बात नहीं। जाकर समाधि से उठा दो।"

एकनाथ - "यह असम्भव है। (थोड़ी देर बाद) क्या बहुत जरूरी काम है?''

सवार - "अब मैं तुमसे क्या कहूँ? जरूरी है या नहीं। राजा साहब का हुक्म है। इसी समय पहुँचाओ। मैं पागल न था जो तुम पर ज़ोर देता।"

एकनाथ ने लिफाफे को उलट-पलटकर देखा और कहा - "मगर ऐसी कौन-सी बात है, जो जरा भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते?''

सवार - "भैया! मेरा कर्तव्य आज्ञा पालन करना है। तुम जाकर सूचना देते हो या मैं खुद जाऊँ? हर हालत में यह परवाना अभी उनके पास पहुँच जाना चाहिए। जरा-सी देर भी रियासत को बर्बाद कर देगी।"

एकनाथ - "मगर इस समय तो उनके पास कोई भी नहीं जा सकता, यहाँ तक कि स्वयं राजा साहब आ जाएँ तो उनको भी आगे न बढ़ने दूँ। गुरुजी ईश्वर के ध्यान में है।"

सवार ने कुछ सोचकर धीरे से कहा - "तो तुम्हें साफ ही कहना पड़ेगा। शहर पर किसी दुश्मन ने हमला किया है। राजा साहब यह परवाना भेजकर अपने कर्तव्य से निवृत्त हो गए। शहर बचे या बरबाद हो, उनकी बला से और किसी को इसकी फिक्र ही नहीं। ले-देकर एक दीवान साहब हैं, जिनको शहर की हिफाजत का खयाल है और जिनके इशारे पर सिपाही मर-मिटने को तैयार हैं। अब यह तुम खुद ही सोच लो कि उनको इस वक्त सूचना देना मुनासिब है या नहीं। मगर मैं इतना कहे देता हूँ कि उनको सूचना न हुई तो दुश्मन किले की ईंट से ईंट बजा देंगे।"

यह कहकर सवार चला गया, मगर उसके शब्द एकनाथ के कानों में उसी तरह गूँज रहे थे। उसने परवाना गुरुजी के कागज़ों पर रख

दिया और घुटनों पर सिर रखकर सोचने लगा कि क्या करना चाहिए? उठाऊँ या न उठाऊँ? ध्यान में हैं। जो राजाओं का भी राजा है, उसके दरबार में हैं। कहीं अप्रसन्न न हो जाएँ, क्रोध में न आ जाएँ। सब किए-कराए पर पानी फिर जाएगा। एक दिन कहते थे, भगवान् अपने भक्तों का काम स्वयं कर देते हैं। कहेंगे, यह बात तुझे कैसे भूल गई? लज्जित हो जाऊँगा, उत्तर न दे सकूँगा, उनके सामने सिर उठाने के योग्य न रहूँगा। तो ठीक है,मुझे चुप रहना चाहिए, देखूँ परमात्मा क्या करता है।

एकनाथ निश्चित हो गया और इधर-उधर टहलने लगा। मगर चिन्ता शहद की मक्खी के समान है। इसे जितना हटाओ उतना ही और चिमटती है। एकनाथ को फिर इसी चिन्ता ने आ घेरा। कहीं वैरी निकट न आ पहुँचा हो, राजा ने जब ही जरूरी परवाना भेजा है। ऐसा न हो, मैं यहाँ मंदिर के द्वार पर बैठा रहूँ और गढ़ पर दुश्मन का अधिकार हो जाए। उस समय गुरुजी के मन की क्या अवस्था होगी? बहुत नाराज होंगे। कहेंगे, तुझे इतना भी विवेक नहीं कि समय-कुसमय ही पहचान सके। हम समाधि में बैठे रहे, उधर शहर की सफाई हो गई। इसका उत्तरदाता केवल तू है, जिसने ऐसी मूर्खता की।

एकनाथ असमंजस में पड़ गया। कभी सोचता उठा देना चाहिए, इस समय यही धर्म है। कभी सोचता, नहीं उठाना चाहिए, समाधि में हैं। वह दोनों तरफ देखता था, परन्तु उसे दोनों तरफ अंधकार दिखाई देता था। प्रकाश कहीं भी न था। वह घबराहट की दशा में इधर-उधर फिर रहा था। ऐसी दशा उसकी आज तक कभी न हुई थी। अपने चारों तरफ काले नागों को फुंकारें मारते देखकर भी उसका विवेक नष्ट न होता। मगर इस समय...।

वह बहुत व्याकुल था। उसके मस्तिष्क से पसीने की बूँदें टपक रही थीं। उसके मुँह का रंग एक-एक क्षण में बदलता था, जैसे वह उसके जीवन-मरण का प्रश्न हो। इस समय उसे कौन बचा सकता है? इस निराशा के भार से उसे कौन निकाल सकता है? सिवाय गुरुजी के और कोई नहीं। और गुरुजी... उसने उनकी ओर देखा। वह अभी तक आँखें बंद किए ध्यान में बैठे थे। एकनाथ भूमि पर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोया, मगर इससे क्या होता था? समय बहुत तेज़ी से बढ़ा चला जाता था।

इतने में दुर्ग के बाहर दुश्मन की तोपें गर्जने लगीं। एकनाथ का पीला मुँह और भी पीला हो गया। अब सोचने का अवसर न था, काम करने का समय था। एक क्षण में इधर या उधर। एकनाथ ने अपने धड़कते हुए दिल पर हाथ रखा, अपनी तर्कशक्ति को एकत्रित किया, एक मिनट के लिए सिर झुकाया और निश्चय कर लिया।

थोड़ी देर के बाद वह गुरुजी की जंगी पोशाक पहने उनके जंगी घोड़े पर सवार था और देवगढ़ की वीर सेना उसके पीछे "हर-हर महादेव" करती हुई दुर्ग से निकल रही थी। एकनाथ लड़ा और विजयी हुआ और दुश्मन को भगाकर वापस आ गया। परन्तु, उस समय यह किसी को भी पता न था कि यह एकनाथ है, पन्तजी नहीं है। एकनाथ ने घोड़ा अश्वशाला में बाँध दिया और कवच उतारकर दीवार के साथ लटका दिया और अपने वासंती रंग के वस्त्र पहनकर चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

थोड़ी देर बाद गुरुजी की समाधि खुली और वह बाहर निकले। वहाँ हर एक के मुँह पर इसी घटना का बखान था। लोग कहते थे, आज दीवान साहब ने कमाल किया, उनकी तलवार ऐसी चलती थी जैसे कैंची कपड़े पर चलती है। दुश्मन कैसे घमण्ड से आया था, मानो देवगढ़ में सिपाही नहीं रहते, पशु-पक्षी रहते हैं। मगर दीवान साहब ने उसके दाँत खट्टे कर दिए।

दीवान साहब को आश्चर्य हो रहा था कि यह कहते क्या हैं? कौन आया? किसने आक्रमण किया? किसने दाँत खट्टे किए? इनको किसी भी बात का ज्ञान न था। आश्चर्यचकित हो आगे बढ़ रहे थे कि एक स्थान पर कुछ आदमी बातें करते दिखाई दिए। दीवान साहब उनके पीछे खड़े हो गए और सुनने लगे।

एक आदमी कह रहा था - "आज तो दीवान साहब की चुस्ती-चालाकी देखने योग्य थी।"

दूसरा - "हम उनसे छोटे हैं, परन्तु हममें वह जोश नाम को नहीं। अद्भुत आदमी हैं।"

तीसरा - "आदमी□! वाह भाई वाह!! उन्हें आदमी कौन कहता है। वह तो कोई ऋषि हैं। पापी प्राणियों में यह शक्ति कहाँ! जवानी, बुढ़ापा सब उनके वश में हैं। चाहे बूढ़े बन जाएँ, चाहे जवान बन जाएँ।"

चौथा मुसलमान था, वह गंभीरता से बोला - "जरूर-जरूर, बड़े बहादुर हैं। आज तो बिलकुल नौजवान मालूम होते थे, वह बुढ़ापा कहीं नजर न आता था।"

तीसरा - "और भैया! हम तो देख रहे थे। दुश्मन उनको देखते ही किंकर्तव्यविमूढ़ ही जाते थे, जैसे किसी ने मंत्र पढ़कर उनकी संज्ञा छीन ली हो।"

चौथा - "आँखों से आग बरसती थी। सिद्ध पुरुष महात्माओं के यही लक्षण हैं। जिसकी तरफ देख लें वही वश में हो जाता है। कुछ करना चाहे तब भी नहीं कर सकता।"

दूसरा - "और उनका घोड़ा कैसा उड़ता चला जाता था, यह शायद आपने नहीं देखा।"

तीसरा - "खूब देखा, दो ही घण्टे में दुश्मन मैदान छोड़ भागा। किस घमण्ड से आया था, मानो विजय निश्चित है।"

चौथा - "अब कभी इस तरफ देखने का भी साहस न करेगा।"

पहला - "समझता होगा, बादशाह विलासप्रिय है, जाते ही विजय हो जाएगी, यह पता न था कि पन्तजी का सामना है। कैसा भागा!"

दूसरा - "अच्छी शिक्षा मिली। आजीवन स्मरण रखेगा।"

पाँचवाँ - "परन्तु एक और बात सुनी है, सुनकर बुद्धि चकराती है। बड़ी अद्भुत बात है।"

पहला - "वह क्या?"

पाँचवाँ - "कुछ लोगों का कहना है, जब वह दुश्मन से लड़ रहे थे, उसी समय वह अपने मंदिर में भी बैठे थे।"

दूसरा - "हाँ-हाँ! सुना तो हमने भी है।"

तीसरा - "परन्तु एक ही समय में दो स्थानों पर! यहाँ भी, वहाँ भी! अचरज होता है।"

चौथा - "भाई, जिसकी पीठ पर परमेश्वर का हाथ हो, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं। भगवान जो चाहे कर दे, उसका हाथ कौन पकड़ सकता है? वह चाहे तो तुम अभी आकाश में भी उड़ने लगो, हम मुँह देखते रह जाएँगे। प्रभु की लीला है।"

पाँचवाँ - "और क्या?"

पहला - "यह दीवान साहब नहीं, नगर-रक्षक देवता है।" सहसा एक आदमी ने पीछे मुड़कर देखा और दूसरे को दिखाया। सब दंग रह गए। यह क्या? दीवान साहब चले जा रहे हैं।

एक बोला - "लो यह भी लो। हममें से किसी का रूप धारण करके खड़े थे, अब अपने रूप में जा रहे हैं। हमने तो पहले ही कह दिया था कि यह महात्मा जो चाहें सो कर सकते हैं।"

अब दीवान साहब सब कुछ समझ गए। यह काम एकनाथ ही का है, किसी दूसरे का नहीं। उसी ने हमारे वस्त्र पहने और दुश्मन को हराकर लौट आया। यह बालक कितना वीर है! कितना समझदार!! राजा का परवाना आया होगा, हम समाधि में थे, हमें नहीं उठाया, स्वयं लड़ने चला गया। कोई मूर्ख होता तो कहता, शहर लुटता है तो लुटे, हमें क्या? बैठे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उन्होंने मंदिर में पहुँचते ही एकनाथ को गले से लगा लिया और कहा - "तूने मेरी लाज रख ली।"

एकनाथ बार-बार उनके चरणों में गिरता था, कहता था - "आप मुझे लज्जित कर रहे हैं। मैंने तो कुछ भी नहीं किया।"

पण्डितजी ने उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा - "तुम्हारी वीरता की लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, मुझे यह पता न था कि तुम तलवार के भी धनी हो।"

एकनाथ - "यह सब आपकी कृपा है, वरना मेरी भुजाओं में ऐसा बल कभी न था।"

पण्डितजी - "लोगों को संदेह भी न हुआ कि यह तुम हो, मैं नहीं हूँ।"

एकनाथ - "और वास्तव में यह आप ही का प्रताप है, नहीं तो मैं किस योग्य था? मुझे केवल इतना स्मरण है कि मैंने आपके वस्त्र पहने और घोड़े पर सवार हुआ। इसके बाद क्या हुआ, इसका मुझे जरा भी ज्ञान नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई दैवी शक्ति मुझे उड़ाए लिए जाती है, जैसे मैं अपने आपे में न था। अवश्यमेव आप ही की सत्ता मेरे हाथ में आ गई थी। अन्यथा यह विजय असम्भव थी। शरीर मेरा था, चेतना आपकी थी।"

पण्डितजी - "लोग अब तक यही समझते हैं कि यह मैं ही था।"

एकनाथ - "स्वयं मेरी भी यही धारणा है। आपने मुझे एकमात्र अपना साधन बनाया था।"

इस श्रद्धा को देखकर पण्डितजी की आँखें सजल हो गईं। थोड़ी देर बाद बोले - "वत्स! अब मैं बूढ़ा हो गया। इस पन में यह राज्य कार्य करना बड़ा कठिन है। मैं चाहता हूँ, अब चार दिन विश्राम करूँ। दीवान की पदवी तुम सँभालो तो मुझे छुट्टी मिले। आज की घटना ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि यह काम तुम खूब सँभालोगे। राजा साहब को भी आपत्ति न होगी। मेरा जाकर दो शब्द कह देना ही काफ़ी है, वे स्वीकार कर लेंगे। कहो तो अभी जाऊँ"

एकनाथ की आँखों में आँसू आ गए। उसने दोनों हाथ बाँध लिए, जैसे कोई भूल हो गई हो। वह भूमि पर मुँह के बल गिर पड़ा और नम्रता से बोला - "मुझे कुछ नहीं चाहिए। केवल आपके चरणों में पड़ा रहूँ, मेरे लिए यही सब कुछ है।"

पण्डितजी एकनाथ का अभीष्ट समझ गए, परन्तु चुप रहे।

अभी एक परीक्षा बाकी थी।

और कुछ दिनों बाद उसका समय भी आ गया।

प्रात:काल था, एकनाथ पण्डितजी के स्नान के लिए पानी भर रहा था। इतने में पण्डित जी खड़ाऊँ पहने हुए आए और मुसकराकर बोले - "बेटा एकनाथ! कल नववर्षारम्भ है। इस वर्ष

अब दीवान साहब सब कुछ समझ गए। यह काम एकनाथ ही का है, किसी दूसरे का नहीं। उसी ने हमारे वस्त्र पहने और दुश्मन को हराकर लौट आया। यह बालक कितना वीर है! कितना समझदार!! राजा का परवाना आया होगा, हम समाधि में थे, हमें नहीं उठाया, स्वयं लड़ने चला गया। कोई मूर्ख होता तो कहता, शहर लुटता है तो लुटे, हमें क्या? बैठे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उन्होंने मंदिर में पहुँचते ही एकनाथ को गले से लगा लिया और कहा - "तूने मेरी लाज रख ली।"

का हिसाब-किताब तैयार कर लो। समय थोड़ा है, केवल आज का दिन और आज की रात। परन्तु तुम्हारे जैसे योग्य आदमी के लिए यह कठिन नहीं।"

एकनाथ ने पानी का घड़ा हाथ से रख दिया।

पण्डितजी - "राजा साहब कल हिसाब देखेंगे। तैयार हो जाएगा या नहीं? यदि न हो सके तो मैं कर लूँ।"

एकनाथ - (धीरे से) "मैं कर लूँगा।"

पण्डितजी - "तो जाओ, आरम्भ कर दो। समय बहुत कम है।"

एकनाथ दफ्तर में पहुँचा और हिसाब-किताब देखने लगा। काम साधारण न था, सारे वर्ष का हिसाब था। और वह भी किसी साहूकार का नहीं, एक रियासत का। परन्तु एकनाथ के दिल में जरा भी घबराहट न थी, न मुँह पर चिन्ता के चिह्न थे। उसने किताबों के ढेर सामने रख लिए और पालथी मारकर बैठ गया।

सूरज आकाश में धीरे-धीरे ऊँचा उठा और सिर पर पहुँच गया। मगर एकनाथ उसी तरह

बैठा हिसाब देखता रहा। संध्या हो गई, पर एकनाथ को पता भी न था। नौकर आकर शमादान जला गया, एकनाथ काम में लगा रहा। उसे खाने-पीने की सुध न थी, न सोने की इच्छा थी। खयाल यह था, किसी प्रकार काम समाप्त हो जाए।

आधी रात बीत गई, एकनाथ ने सारा काम समाप्त कर लिया। सब कुछ ठीक था, केवल एक पैसे का फर्क था। एकनाथ के तेवर बदल गए। सोचने लगा, जरा-सी भूल ने सारा काम चौपट कर दिया। उसने रकमों को दूसरी बार जमा किया। फिर वही फर्क। फिर हिसाब किया। पर फर्क फिर भी न निकला। एक पैसे का अन्तर ज्यों-का-त्यों था। एकनाथ घबरा गया। रात आधी से भी अधिक जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। लोग अपने-अपने घरों में सुख-चैन की नींद सो रहे थे, मगर एकनाथ शमादान के सामने बैठा था और सोचता था कि पैसे का फर्क कहाँ है?

पिछले पहर पण्डित जनार्दन की आँख खुली। खिड़की से देखा, दफ्तर में अभी तक प्रकाश है। समझ गए, एकनाथ जाग रहा है। वह धीरे से उठे और बाहर चले आए। दफ्तर के बाहर चौकीदार भी ऊँघ रहा था, केवल एकनाथ जागता था। पण्डितजी ने धीरे से कहा - "एकनाथ?"

मगर एकनाथ ने कोई उत्तर न दिया, अपना हिसाब करता रहा।

पण्डितजी ने फिर पुकारकर कहा - "एकनाथ!"

एकनाथ ने कुछ नहीं सुना।

पण्डितजी और आगे बढ़े और जरा ऊँची आवाज से बोले - "एकनाथ!"

मगर फिर जवाब में वही सन्नाटा था, जैसे एकनाथ जागता न था, सोता था।

पण्डितजी को अचरज हुआ। वह और आगे बढ़े और शमादान के सामने इस प्रकार खड़े हो गए कि उनके शरीर की छाया पुस्तक पर पड़ती थी। मगर एकनाथ को अब भी मालूम न हुआ। उसके लिए पुस्तक के अक्षर उसी तरह साफ और रोशन थे। वह हिसाब में तन्मय हो रहा था। उसे दीन-दुनिया की सुध न थी। इसी तरह आधा घण्टा बीत गया।

सहसा एकनाथ को अपनी भूल का पता लगा। उसने खुशी से सिर हिलाया और हिसाब ठीक करके पुस्तकें बन्द कर दीं। इसके बाद उसने दोनों हाथ मिलाकर सिर से ऊपर उठाए और जँभाई लेने लगा। इतने में उसने चकित होकर देखा, पण्डितजी सामने खड़े हैं। वह घबराकर आगे बढ़ा और उनके पाँव में झुक गया।

पण्डितजी ने पूछा - "हिसाब-किताब हो गया?"

एकनाथ - "जी हाँ, हो गया। आप कैसे आए?"

पण्डितजी - "हम यहाँ बड़ी देर से खड़े हैं।"

एकनाथ चौंक पड़ा।

पण्डितजी - "हमने तुम्हें कई बार बुलाया, मगर क्या जानें तुम कहाँ थे?"

एकनाथ - "मैंने एक भी आवाज नहीं सुनी।"

पण्डितजी - "हमारी छाया से पुस्तक पर अँधेरा हो गया, तुम्हें इसका ज्ञान न हुआ?"

एकनाथ - (हाथ बाँधकर) "अब क्या कहूँ, मुझे सन्देह तक न हुआ कि कोई इस कमरे में खड़ा है। इस समय मेरी दुनिया केवल यह पुस्तक थी।"

पण्डितजी खड़े थे, बैठ गए और एकनाथ के मुँह की ओर देखकर बोले - "प्रात:काल से इसी भाँति बैठे थे क्या?"

एकनाथ - "जी हाँ, इसी भाँति।"

पण्डितजी - "कुछ खाया-पिया भी नहीं?"

एकनाथ - "जी नहीं।"

पण्डितजी - "नींद भी नहीं आई?"

एकनाथ - "जरा भी नहीं।"

पण्डितजी - "इस समय क्या कर रहे हो?"

एकनाथ - "एक पैसे का फर्क पड़ता था, उसे निकाल रहा था। बड़ी कठिनाई से पता चला।"

पण्डितजी - "एक पैसे के लिए इतना परिश्रम क्यों किया? मामूली बात थी।"

एकनाथ - "मैंने सोचा, आखिर भूल है। चाहे एक पैसे की हो, चाहे एक लाख की।"

पण्डितजी का चेहरा चमकने लगा। वह गम्भीरता से बोले - "वत्स! तुने मुझे प्रसन्न कर दिया। मेरी परीक्षा बड़ी कठिन थी। बड़े-बड़े साधु-सन्त भी कदाचित् इसमें सफल न होते, परन्तु तू सबमें उत्तीर्ण हो गया। तूने काले कोसों की यात्रा की और सिद्ध कर दिया कि तेरा हृदय श्रद्धा का सागर है। तूने सिद्ध कर दिया कि तुझमें सेवा-भाव है। तूने युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त की, जो इस बात का प्रमाण है कि तू वीरात्मा है और तुझे मृत्यु का भय नहीं। और फिर दीवान की पदवी को ठुकरा दिया।

कोई लोभी ऐसे अवसर पर फूला न समाता। वह त्याग-भाव कितना पवित्र, कितना महान है। परन्तु मैंने तुझे उस समय भी गुरु-मंत्र न दिया, क्योंकि अभी एक परीक्षा बाकी थी। आज वह भी समाप्त हो गई। मैं देखना चाहता था कि तुझमें एकाग्रता है या नहीं, जिसके बिना ईश्वर भक्ति के मार्ग पर दो पग चलना भी असम्भव है। मैं आया, मैंने तुझे आवाजें दीं, मैंने तेरा प्रकाश रोक लिया, परन्तु तुझे मालूम भी न हुआ। यह थी एकाग्रता की पराकाष्ठा। अब मैं तुझे गुरु-मंत्र देने को तैयार हूँ। मुझे तेरे जैसे शिष्य पर गर्व है।"

इस समय एकनाथ के चेहरे पर ऐसा तेज था जो इस मृत्युलोक में कभी-कभी दिखाई देता है। आज उसका वर्षों का परिश्रम सफल हुआ है, आज वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। उसने वहीं भूमि पर गिरकर घुटने टेक दिए।

पण्डितजी ने फिर कहा - "और मुझे यह भी आशा है कि जिस प्रकार तूने आज एक पैसे की भूल के लिए अपना इतना समय खर्च किया है, उसी प्रकार भक्ति मार्ग पर चलते हुए भी तू इस नियम को स्मरण रखेगा और छोटी-से-छोटी बुराई की भी अवहेलना न करेगा। अब जा, आराम कर। कल मैं तुझे प्रकाश, पवित्रता और अमर जीवन के सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दूँगा।"

एकनाथ का चेहरा और भी चमकने लगा।

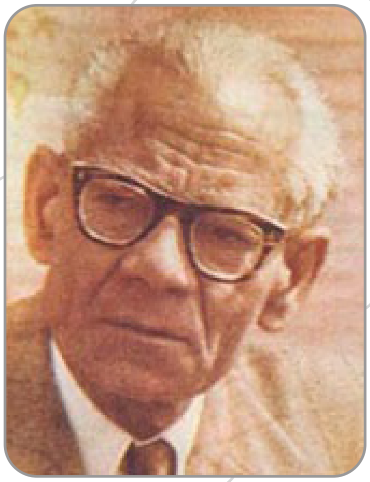

चित्र का शीर्षक

– यशपाल

जयराज ने उस चित्र को नष्ट कर देने के लिए समीप पड़ी छुरी हाथ में उठा ली। उसी समय नीता का पुलक भरा शब्द सुनाई दिया - इस चित्र का शीर्षक आप क्या रखेंगे? जयराज का हाथ रुक गया। वह नीता के चेहरे पर गर्व और अभिमान के भाव को देखता स्तब्ध खड़ा था। कलाकार को अपने इस बहुत ही उत्कृष्ट चित्र के लिए कोई शीर्षक न खोज सकते देख नीता ने अपने बालक को अभिमान से आगे बढा, मुस्कुराकर सुझाया - इस चित्र का शीर्षक रखिये सृजन की पीड़ा!

जयराज जाना-माना चित्रकार था। वह उस वर्ष अपने चित्रों को प्रकृति और जीवन के यथार्थ से सजीव बना सकने के लिये, अप्रैल के आरम्भ में ही रानीखेत जा बैठा था। उन महिनों पहाड़ों में वातावरण खूब साफ और आकाश नीला रहता है। रानीखेत से त्रिशूल, पंचचोली और चौखम्बा की बरफानी चोटियाँ, नीले आकाश के नीचे माणिक्य के उज्ज्वल स्तूपों जैसीं जान पड़ती है। आकाश की गहरी नीलिमा से कल्पना होती कि गहरा नीला समुद्र उपर चढ क़र छत की तरह स्थिर हो गया हो और उसका श्वेत फेन, समुद्र के गर्भ से मोतियों और मणियों को समेट कर ढेर का ढेर नीचे पहाड़ों पर आ गिरा हो।

जयराज ने इन दृष्यों के कुछ चित्र बनाये परन्तु मन न भरा। मनुष्य के संसर्ग से हीन यह चित्र बनाकर उसे ऐसा ही अनुभव हो रहा था जैसे निर्जन बियाबान में गाये राग का चित्र बना दिया हो। यह चित्र उसे मनुष्य की चाह और अनुभव के स्पन्दन से शून्य जान पड़ते थे। उसने कुछ चित्र, पहाड़ों पर पसलियों की तरह फैले हुए खेतों में श्रम करते पहाड़ी किसान स्त्री-पुरूषों के बनाये। उसे इन चित्रों से भी सन्तोष न हुआ। कला की इस असफलता से अपने हृदय में एक हाय-हाय का सा शोर अनुभव हो रहा था। वह अपने स्वप्न और चाह की बात प्रकट नहीं कर पा रहा था।

जयराज अपने मन की तड़प को प्रकट कर सकने के लिए व्याकुल था।

वह मुठ्ठी पर ठोडी टिकाये बरामदे में बैठा था। उसकी दृष्टि दूर-दूर तक फैली हरी घाटियों पर तैर रही थी। घाटियों के उतारों-चढावों पर सुनहरी धूप खेल रही थी। गहराइयों में चाँदी की रेखा जैसी नदियाँ कुण्डलियाँ खोल रही थीं। दूध के फेन जैसी चोटियाँ खड़ी थीं। कोई लक्ष्य न पाकर उसकी दृष्टि अस्पष्ट विस्तार पर तैर रही थी। उस समय उसकी स्थिर आँखों के छिद्रों से सामने की चढाई पर एक सुन्दर, सुघड़ युवती को देखने लगी जो केवल उसकी दृष्टि का लक्ष्य बन सकने के लिए ही, उस विस्तार में जहाँ-तहाँ, सभी जगह दिखाई दे रही थी।

जयराज ने एक अस्पष्ट-सा आश्वासन अनुभव किया। इस अनुभूति को पकड़ पाने के लिये उसने अपनी दृष्टि उस विस्तार से हटा, दोनों बाहों को सीने पर बाँध कर एक गहरा निश्वास लिया। उसे जान पड़ा जैसे अपार पारावार में बहता निराश व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये आने वाले की पुकार सुन ले। उसने अपने मन में स्वीकार किया, यही तो वह चाहता है :- कल्पना से सौन्दर्य की सृष्टि कर सकने के लिये उसे स्वयं भी जीवन में सौन्दर्य का सन्तोष मिलना चाहिये; बिना फूलों के मधुमक्खी मधु कहाँ से लाये?

ऐसी ही मानासिक अवस्था में जयराज को एक पत्र मिला। यह पत्र इलाहाबाद से उसके मित्र एडवोकेट सोमनाथ ने लिखा था। सोमनाथ ने जयराज का परिचय उसकी कला के प्रति अनुराग और आदर के कारण प्राप्त किया था। कुछ अपनापन भी हो गया था। सोम ने अपने

उत्कृष्ट कलाकार मित्र के बहुमूल्य समय का कुछ भाग लेने की घृष्टता के लिये क्षमा माँग कर अपनी पत्नी के बारे में लिखा था -

...इस वर्ष नीता का स्वास्थ्य कुछ शिथिल हैं, उसे दो मास पहाड़ में रखना चाहता हूँ। इलाहाबाद की कड़ी ग़र्मी में वह बहुत असुविधा अनुभव कर रही है। यदि तुम अपने पड़ोस में ही किसी सस्ते, छोटे परन्तु अच्छे मकान का प्रबन्ध कर सको तो उसे वहाँ पहुँचा दूँ। सम्भवतः तुमने अलग पूरा बँगला लिया होगा। यदि उस मकान में जगह हो और इससे तुम्हारे काम में विघ्न पड़ने की आशंका न हो तो हम एक-दो कमरे सबलेट कर लेंगे। हम अपने लिए अलग नौकर रख लेंगे.. आदि-आदि।

दो वर्ष पूर्व जयराज इलाहाबाद गया था। उस समय सोम ने उसके सम्मान में एक चाय-पार्टी दी थी। उस अवसर पर जयराज ने नीता को देखा था और नीता का विवाह हुए कुछ ही मास बीते थे। पार्टी में आये अनेक स्त्री-पुरूष के भीड़-भड़क्के में संक्षिप्त परिचय ही हो पाया था। जयराज ने स्मृति को ऊँगली से अपने मस्तिष्क को कुरेदा। उसे केवल इतना याद आया कि नीता दुबली-पतली, छरहरे बदन की गोरी, हँसमुख नवयुवती थी; आँखों में बुध्दि की चमक। जयराज ने पत्र को तिपाई पर एक ओर दबा दिया और फिर सामने घाटी के विस्तार पर निरूद्देश्य नजर किये सोचने लगा - क्या उत्तर दे?

जयराज की निरूद्देश्य दृष्टि तो घाटी के विस्तार पर तैर रही थी परन्तु कल्पना में अनुभव कर रहा था कि उसके समीप ही दूसरी आराम कुर्सी पर नीता बैठी है। वह भी दूर घाटी में कुछ देख रही है या किसी पुस्तक के पन्नों या अखबार में दृष्टि गड़ाये है। समीप बैठी युवती नारी की कल्पना जयराज को दूध के फेन के समान श्वेत, स्फटिक के समान उज्ज्वल पहाड़ क़ी बरफानी चोटी से कहीं अधिक स्पन्दन उत्पन्न करने वाली जान पड़ी। युवती के केशों और शरीर से आती अस्पष्ट-सी सुवास, वायु के झोकों के साथ घाटियों से आती बत्ती और शिरीष के फूलों की भीनी गन्ध से अधिक सन्तोष दे रही थी।

वह अपनी कल्पना में देखने लगा - नीता उसकी आँखों के सामने घाटी की एक पहाड़ी पर चढती जा रही है। कड़े पत्थरों और कंकड़ों के ऊपर नीता की गुलाबी एड़ियाँ, सैन्डल में सँभली हुई हैं। वह चढाई में साड़ी क़ो हाथ से सँभाले हैं। उसकी पिंडलियाँ केले के भीतर के डंठल के रंग की हैं, चढाई के श्रम के कारण नीता की साँस चढ ग़ई है और प्रत्येक साँस के साथ उसका सीना उठ आने के कारण, कमल की प्रस्फुटनोन्मुख कली की तरह अपने आवरण को फाड़ देना चाहता है। कल्पना करने लगा - वह कैनवैस के सामने खड़ा चित्र बना रहा है।

नीता एक कमरे से निकली है। आहट ले उसके कान में विघ्न न डालने क लिए पंजों के बल उसके पीछे से होती हुई दूसरे कमरे में चली जा रही है। नीता किसी काम से नौकर को पुकार रही है। उस आवाज से उसके हृदय का साँय-साँय करता सूनापन सन्तोष से बस गया है ...।

ज़यराज तुरन्त कागज और कलम ले उत्तर लिखने बैठा परन्तु ठिठक कर सोचने लगा - वह क्या चाहता है? ...मित्र की पत्नी नीता से वह क्या चाहेगा? ..तटस्थता से तर्क कर उसने उत्तर दिया - कुछ भी नहीं। जैसे सूर्य के प्रकाश में हम सूर्य की किरणों को पकड़ लेने की आवश्यकता नहीं समझते, उन किरणों से स्वयं ही हमारी आवश्यकता पूरी हो जाती है; वैसे ही वह अपने जीवन में अनुभव होने वाले सुनसान अँधेरे में नारी की उपस्थिति का प्रकाश चाहता है।

जयराज ने संक्षिप्त-सा उत्तर लिखा - ...भीड़-भाड़ से बचने के लिए अलग पूरा ही बंगला लिया है। बहुत-सी जगह खाली पड़ी है। सबलेट-का कोई सवाल नहीं। पुराना नोकर पास है। यदि नीताजी उस पर देख-रेख रखेंगी तो मेरा ही लाभ होगा। जब सुविधा हो आकर उन्हें छोड़ ज़ाओ। पहुँचने के समय की सूचना देना। मोटर स्टैन्ड पर मिल जाऊँगा ...।

अपनी आँखों के सामने और इतने समीप एक तरूण सुन्दरी के होने की आशा में जयराज का मन उत्साह से भर गया। नीता की अस्पष्ट-सी याद को जयराज ने कलाकार के सौन्दर्य के आदेशों की कल्पनाओं से पूरा कर लिया। वह उसे अपने बरामदे में, सामने की घाटी पर, सड़क़ पर अपने साथ चलती दिखाई देने लगी। जयराज ने उसे भिन्न-भिन्न रंगों की साड़ियों में, सलवार-कमीज के जोड़ों की पंजाबी पोशाक में, मारवाड़ी अँगिया-लहंगे में फूलों से भरी लताओं के कुंज में, चीड़ क़े पेड़ क़े तले और देवदारों की शाखाओं की छाया में सब जगह देख लिया। वह नीता के सशरीर सामने आ जाने की उत्कट प्रतीक्षा में व्याकुल होने लगा; वैसे ही जैसे अँधेरे में परेशान व्यक्ति

नीता का रोग से पीड़ित, बोझिल कराहता हुआ रुप उसकी आँखों के सामने से कभी न हटने की जिद कर रहा था। मस्तिष्क में समायी हुई ग्लानि से छुटकारा पाने का दृढ निश्चय कर वह सीधा कश्मीर पहुँचा। फिर बरफानी चोटियों क बीच कमल के फूलों से घिरी नीली डल झील में शिकारे पर बैठ उसने सौन्दर्य के प्रति अनुराग पैदा करना चाहा। पुरी और केरल में समुद्र के किनारे जा उसने चाँदनी रात में ज्वार-भाटे का दृश्य देखा। जीवन के संघर्ष से गूँजते नगरों में उसने अपने-आप को भुला देना चाहा परन्तु मस्तिष्क में भरे हुए नारी की विरुपता के यथार्थ ने उसका पीछा न छोड़ा। वह बनारस लौट आया और अपने ऊपर किये गये अत्याचार का बदला लेने के लिये रंग और कूची लेकर कैनवेस के सामने जा खड़ा हुआ। जयराज ने एक चित्र बनाया, पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेट फूला हुआ था, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराहट में खुल कर मुड़े हुए होंठ, हाथ-पाँव पीड़ा से ऐंठे हुए।

सूर्य के प्रकाश की प्रतीक्षा करता है।

लौटती डाक से सोम का उत्तर आया - ...तारीख को नीता के लिये गाड़ी में एक जगह रिजर्व हो गई है। उस दिन हाईकोर्ट में मेरी हाजिरी बहुत आवश्यक है। यहाँ गर्मी अधिक है और बढती ही जा रही है। मैं नीता को और कष्ट नहीं देना चाहता। काठगोदान तक उसके लिए गाड़ी में जगह सुरक्षित है। उसे बस की भीड़ में न फँस कर टैक्सी पर जाने के लिए कह दिया है। तुम उसे मोटर स्टैण्ड पर मिल जाना। तुम हम लोगों के लिये जहाँ सब कुछ कर रहे हो, इतना और सही। हम दोनों कृतज्ञ होंगे ...।

ज़यराज मित्र की सुशिक्षित और सुसंस्कृत पत्नी को परेशानी से बचाने के लिए मोटर स्टैण्ड पर पहुँच कर उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। काठगोदाम से आनेवाली मोटरें पहाड़ी क़े पीछे से जिस मोड़ से सहसा प्रकट होती थीं, उसी ओर जयराज की आँख निरन्तर लगी हुई थी। एक टैक्सी दिखाई दी। जयराज आगे बढ ग़या। गाड़ी रूक़ी। पिछली सीट पर एक महिला अपने शरीर का बोझ सँभाल न सकने के कारण कुछ पसरी हुई-सी दिखाई दी। चेहरे पर रोग की थकावट का पीलापन और थकावट से फैली हुई निस्तेज आँखों के चारों ओर झाइयों के घेरे थे। ज़यराज ठिठका। महिला की आँखों में पहचान का भाव और नमस्कार में उसके हाथ उठते देख जयराज को स्वीकार करना पड़ा - मैं जयराज हूँ।

महिला ने मुस्कराने का यत्न किया - मैं नीता हूँ।

महिला की वह मुस्कान ऐसी थी जैसे पीड़ा को दबा कर कर्तव्य पूरा किया गया हो। महिला के साधारणतः दुबले हाथ-पाँवों पर लगभग एक शरीर का बोझ पेट पर बँध जाने के कारण उसे मोटर से उतरने में भी कष्ट हो रहा था। बिखरे जाते अपने शरीर को सँभालने में उसे ही असुविधा हो रही थी जैसे सफर में बिस्तर के बन्द टूट जाने पर उसे सँभलना कठिन हो जाता है। महिला लँगड़ाती हुई कुछ ही कदम चल पायी कि जयराज ने एक डांडी (डोली) को पुकार उसे चार आदमियों के कंधों पर लदवा दिया।

सौजन्य के नाते उसे डांडी के साथ चलना चाहिए था परन्तु उस शिथिल और विरूप आकृति के समीप रहने में जयराज को उबकाई और ग्लानि अनुभव हो रही थी।

नीता बंगले पर पहुँच कर एक अलग कमरे में पलंग पर लेट गई। जयराज के कानों में उस कमरे से निरन्तर आह! ऊँह! की दबी कराहट पहुँच रही थी। उसने दोनों कानों में उँगलियाँ दबा कर कराहट सुनने से बचना चाहा परन्तु उसे शरीर के रोम-रोम से वह कराहट सुनाई दे रही थी।

वह नीता की विरूप आकृति, रोग और बोझ से शिथिल, लंगड़ा-लंगड़ा कर चलते शरीर को अपनी स्मृति के पट से पोंछ डालना चाहता था परन्तु वह बरबस आकर उसके सामने खड़ा हो जाता। नीता जयराज को उस मकान के पूरे वातावरण में समा गई अनुभव हो रही थी। जयराज का मन चाह रहा था - बंगले से कहीं दूर भाग जाये।

दूसरे दिन सुबह सूर्य की प्रथम किरणें बरामदे में आ रही थीं। सुबह की हवा में कुछ खुश्की थी। जयराज नीता के कमरे से दूर, बरामदे में आरामकुर्सी पर बैठ गया। नीता भी लगातार लेटने से ऊब कर कुछ ताजी हवा पाने के लिये अपने शरीर को सँभाले, लँगड़ाती-लँगड़ाती बरामदे में दूसरी कुर्सी पर आ बैठी। उसने कराहट को गले में दबा, जयराज को नमस्कार कर हाल-चाल पूछ कर कहा -

मुझे तो शायद सफर की थकावट या नयी जगह के कारण रात नींद नहीं आ सकी ..।

ज़यराज के लिए वहाँ बैठे रहना असम्भव हो गया। वह उठ खड़ा हुआ और कुछ देर में लौटने की बात कह बँगले से निकल गया। परेशानी में वह इस सड़क़ से उस सड़क़ पर मीलों घूमता इस संकट से मुक्ति का उपाय सोचता रहा। छुटकारे के लिए उसका मन वैसे ही तड़प रहा था जैसे चिड़िमार के हाथ में फँस गई चिड़िया फड़फ़ड़ाती है।

उसे उपाय सूझा। वह तेज कदमों से डाकखाने पहुँचा। एक तार उसने सोम को दे दिया - अभी बनारस से तार मिला है कि रोग-शैया पर पड़ी माँ मुझे देखने के लिए छटपटा रही हैं। इसी समय बनारस जाना अनिवार्य है। मकान का

किराया छः महीने का पेशगी दे दिया है। नौकर यहीं रहेगा। हो सके तो तुम आकर पत्नी के पास रहो।

यह तार दे वह बंगले पर लौटा। नौकर को इशारे से बुलाया। एक सूटकेस में आवश्यक कपड़े ले उसने नौकर को विश्वास दिलाया कि दो दिन के लिये बाहर जा रहा है। सोम को दी हुई तार की नकल अपने जाने के बाद नीता को दिखाने के लिए दे दी और हिदायत की -

बीबी जी को किसी तरह का भी कष्ट न हो।

बनारस में जयराज को रानीखेत से लिखा सोम का पत्र मिला। सोम ने मित्र की माता के स्वास्थ्य के लिये चिन्ता प्रकट की थी और लिखा था कि हाईकोर्ट में अवकाश हो गया है। वह रानीखेत पहुँच गया है। वह और नीता उसके लौट आने की प्रतीक्षा उत्सुकता से कर रहे हैं।

जयराज ने उत्तर में सोम को धन्यवाद देकर लिखा कि वह मकान और नौकर को अपना ही समझ कर निस्संकोच वहाँ रहे। वह स्वयं अनेक कारणों से जल्दी नहीं लौट सकेगा। सोम बार-बार पत्र लिखकर जयराज को बुलाता रहा परन्तु जयराज रानीखेत न लौटा। आखिर सोम मकान और सामान नौकर को सहेज, नीता के साथ इलाहाबाद लौट गया। यह समाचार मिलने पर जयराज ने नौकर को सामान सहित बनारस बुलवा लिया।

जयराज के जीवन में सूनेपन की शिकायत का स्थान अब सौन्दर्य के धोखे के प्रति ग्लानि ने ले लिया। जीवन की विरूपता और वीभत्सता का आतंक उसके मन पर छा गया। नीता का रोग से पीड़ित, बोझिल कराहता हुआ रूप उसकी आँखों के सामने से कभी न हटने की जिद कर रहा था। मस्तिष्क में समायी हुई ग्लानि से छुटकारा पाने का दृढ निश्चय कर वह सीधा कश्मीर पहुँचा। फिर बरफानी चोटियों के बीच कमल के फूलों से घिरी नीली डल झील में शिकारे पर बैठ उसने सौन्दर्य के प्रति अनुराग पैदा करना चाहा।

पुरी और केरल में समुद्र के किनारे जा उसने चाँदनी रात में ज्वार-भाटे का दृश्य देखा। जीवन के संघर्ष से गूँजते नगरों में उसने अपने-आप को भुला देना चाहा परन्तु मस्तिष्क में भरे हुए नारी की विरूपता के यथार्थ ने उसका पीछा न छोड़ा। वह बनारस लौट आया और अपने ऊपर किये गये अत्याचार का बदला लेने के लिये रंग और कूची लेकर कैनवेस के सामने जा खड़ा हुआ।

जयराज ने एक चित्र बनाया, पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेट फूला हुआ था, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराहट में खुल कर मुड़े हुए होंठ, हाथ-पाँव पीड़ा से ऐंठे हुए।

जयराज यह चित्र पूरा कर ही रहा था कि उसे सोम का पत्र मिला। सोम ने अपने पुत्र के नामकरण की तारीख बता कर बहुत ही प्रबल अनुरोध किया था कि उस अवसर पर उसे अवश्य ही इलाहाबाद आना पड़ेगा। जयराज ने झुंझलाहट में पत्र को मोड़ क़र फेंक दिया, फिर औचित्य के विचार से एक पोस्टकार्ड लिख डाला - धन्यवाद, शुभकामना और बधाई। आता तो जरूर परन्तु इस समय स्वयं मेरी तबियत ठीक नहीं। शिशु को आशीर्वाद।

सोम और नीता को अपने सम्मानित और कृपालु मित्र का पोस्टकार्ड शनिवार को मिला। रविवार वे दोनों सुबह की गाड़ी से बनारस जयराज के मकान पर जा पहुँचे। नौकर उन्हें सीधे जयराज के चित्र बनाने की टिकटिकी पर ही चढा हुआ था। सोम और नीता की आँखें उस चित्र पर पड़ी और वहीं जम गई।

जयराज अपराध की लज्जा से गड़ा जा रहा था। बहुत देर तक उसे अपने अतिथियों की ओर देखने का साहस ही न हुआ और जब देखा ते नीता गोद में किलकते बच्चे को एक हाथ से कठिनता से सँभाले, दूसरे हाथ से साड़ी क़ा आँचल होठों पर रखे अपनी मुस्कराहट छिपाने की चेष्टा कर रही थी। उसकी आँखें गर्व और हँसी से तारों की तरह चमक रही

दो वर्ष पूर्व जयराज इलाहाबाद गया था। उस समय सोम ने उसके सम्मान में एक चाय-पार्टी दी थी। उस अवसर पर जयराज ने नीता को देखा था और नीता का विवाह हुए कुछ ही मास बीते थे। पार्टी में आये अनेक स्त्री-पुरुष के भीड़-भड़क्के में संक्षिप्त परिचय ही हो पाया था। जयराज ने स्मृति को ऊँगली से अपने मस्तिष्क को कुरेदा। उसे केवल इतना याद आया कि नीता दुबली-पतली, छरहरे बदन की गोरी, हँसमुख नवयुवती थी; आँखों में बुध्दि की चमक।

थीं। लज्जा और पुलक की मिलवट से उसका चेहरा सिंदूरी हो रहा था।

जयराज के सामने खड़ी नीता, रानीखेत में नीता को देखने से पहले और उसके सम्बन्ध में बताई कल्पनाओं से कहीं अधिक सुन्दर थी। जयराज के मन को एक धक्का लगा - ओह धोखा! और उसका मन फिर धोखे की ग्लानि से भर गया।

जयराज ने उस चित्र को नष्ट कर देने के लिए समीप पड़ी छुरी हाथ में उठा ली। उसी समय नीता का पुलक भरा शब्द सुनाई दिया -

इस चित्र का शीर्षक आप क्या रखेंगे?

जयराज का हाथ रूक गया। वह नीता के चेहरे पर गर्व और अभिमान के भाव को देखता स्तब्ध खड़ा था।

कलाकार को अपने इस बहुत ही उत्कृष्ट चित्र के लिए कोई शीर्षक न खोज सकते देख नीता ने अपने बालक को अभिमान से आगे बढा, मुस्कुराकर सुझाया -

इस चित्र का शीर्षक रखिये सृजन की पीड़ा !

ताई

– विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परंतु उसका विकास नहीं हुआ था। उसका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के उपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उसका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परंतु जब उसे ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के है, तब उसके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी।

"ताऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे?" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोंनो बाँहें फैलाकर कहा- "हाँ बेटा,ला देंगे।" उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमकर बोले- "क्या करेगा रेलगाड़ी?"

बालक बोला - "उसमें बैठकर बली दूल जाएँगे। हम बी जाएँगे,चुन्नी को बी ले जाएँगे। बाबूजी को नहीं ले जाएँगे। हमें लेलगाड़ी नहीं ला देते। ताऊजी तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जाएँगे।"

बाबू- "और किसे ले जाएगा?"

बालक दम भर सोचकर बोला- "बछ औल किछी को नहीं ले जाएँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा- "और अपनी ताई को नहीं ले जाएगा?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला- "ताई को नहीं ले जाएँगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं- "अपने ताऊजी ही को ले जा मेरे ऊपर दया रख।" ताई ने यह बात बड़ी रूखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरंत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा- "ताई को क्यों नहीं ले जाएगा?"

बालक- "ताई हमें प्याल(प्यार), नहीं कलतीं।"

बाबू- "जो प्यार करें तो ले जाएगा?"

बालक को इसमें कुछ संदेह था। ताई के भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पुछा- "क्यों रे बोलता नहीं? ताई प्यार करें तो रेल पर बिठाकर ले जाएगा?"

बालक ने ताउजी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया, परंतु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनी के पास ले जाकर उनसे बोले- "लो, इसे प्यार कर लो तो तुम्हें ले जाएगा।" परंतु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुगलबाजी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोली- "तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बैठाने की चेष्टा करते हुए बोले- "प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।-क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी, पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा

लिया। चुमकार-पुचकारकर चुप किया और तत्पश्चात उसे कुछ पैसा तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भयपूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले- "तुम्हरा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया। जो उसे चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोली- "लग जाती तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही मेरे उपर डालते थे और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले- "इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी- "और नहीं किसे कहते हैं, तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दु:ख-सुख सूझता ही नहीं। न जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें उन बातों की कोई परवाह ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

बाबू- "बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो,प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न जाने किस धातु का बना हुआ है?"

रामेश्वरी- "तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता है, मगर वैसा बच्चा भी तो हो। पराये धन से भी कहीं घर भरता है?"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले- "यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे?"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित हो कर बोली- "बातें बनाना बहुत आसान है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो, पर मुझे यह बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं, नहीं तो यह दिन काहे को देखने पड़ते। तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी संतान के लिए न जाने क्या-क्या करते हैं- पूजा-पाठ करते हैं, व्रत रखते हैं,पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा- "पूजा-पाठ, व्रत सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरो तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रूँआसे स्वर में बोलीं- "इसी विश्वास ने सब चौपट कर रखा है। ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जाएँ तो काम कैसे चले? सब विश्वास पर ही न बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिए चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनसे एक छोटा भाई है उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक में ही है। बाबू रामदास जी की आयु 35 के लगभग है और छोटे भाई कृष्णदास की आयु 21 के लगभग। रामदासजी निस्संतान हैं। कृष्णदास के दो संतानें हैं। एक पुत्र-वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं- और एक कन्या है। कन्या की वय दो वर्ष के लगभग है।

रामदासजी आपने छोटे भाई और उनकी संतान पर बड़ा स्नेह रखते हैं- ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी संतानहीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की संतान को अपनी संतान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परंतु रामदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी संतानहीनता का बड़ा दु:ख है।वह दिन-रात संतान ही के सोच में घुली रहती हैं। छोटे भाई की संतान पर पति का प्रेम उनकी आँखो में काँटे की तरह खटकता है।

रात के भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शैया पर लेटे शीतल और मंद वायु का आनंद ले रहे हैं। पास ही दूसरी शैया पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रखे, किसी चिंता में डूबी हुई थी। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गए थे। बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा- "आज तुमने मनोहर को बुरी तरह ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दु:ख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोली- "तुम्ही ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा कि हम दोनों के जन्म-पत्र में संतान का जोग है और उपाय करने से संतान हो सकती है। उसने उपाय भी बताये थे, पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्ही दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना भगवान के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले- "तुम्हारी जैसी सीधी स्त्री भी क्या कहूँ? तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया भर के झूठे और धूर्त हैं। झूठ बोलने ही की

रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उसके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जाएगा। यही सोच कर वह एक क्षण रुकी। इधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यंत भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया- "अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह में आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही कि मनोहर के हाथ से मुँड़ेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मार कर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रोटियाँ खाते हैं। "

रामेश्वरी तुनककर बोली- "तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ से बनाकर तो कहते नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं, वह झूठा है तो वे भी झूठे हैं। अँग्रेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब- "तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कह सकता कि ज्योतिष शास्त्र झूठा है। संभव है,वह सच्चा हो, परंतु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते हैं और लोगों को ठगतें फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी- "हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो। अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में संतान का मुख देखने की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात एक लंबी साँस लेकर बोले- "भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में संतान का मुख देखने की इच्छा न हो? परंतु क्या किया जाए? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है,तब उसके लिए व्यर्थ चिंता करने से क्या लाभ? इसके सिवा जो बात अपनी संतान से होती, वही भाई की संतान से हो भी रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है जो आनंद उसकी बाल क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर नहीं समझता कि चिंता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोली- "तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ? इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ, भला तो यह बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?'"

बाबू साहब हँसकर बोले- "अरे, तुम भी कहाँ की क्षुद्र बातें लायी। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके। इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की संभावना रहती है। परंतु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिसमें नाम बढ़ने के सिवा घटने की आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी थे। उनके संतान कहाँ है। पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला आ रहा है, अभी न जाने कितने दिनों तक चला जाएगा।

रामेश्वरी- "शास्त्र में लिखा है जिसके पुत्र नहीं होता, उनकी मुक्ति नहीं होती ?"

बाबू- "मुक्ति पर मुझे विश्वास नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना भी मान लिया जाए, वो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवालों की मुक्ति हो ही जाती है ! मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है? ये कितने पुत्रवाले हैं, सभी को तो मुक्ति हो जाती होगी ?"

रामेश्वरी निरूत्तर होकर बोली- "अब तुमसे कौन बकवास करे ! तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।"

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुंदर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किंतु भद्दी से भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुंदर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दु:ख का अनुभव नहीं करता, इसलिए कि वह वस्तु, उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, नष्ट होने पर मनुष्य को दु:ख होता है, इसलिए कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपना बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा हृदय में यह विचार नहीं कर लेता कि वह वस्तु मेरी है,तब तक उसे संतोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोलीदामन का-सा है। ये कभी पृथक नहीं किए जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परंतु उसका विकास नहीं हुआ था। उसका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के उपर

लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उसका हृदय उन बच्चों की और खिंचता तो था, परंतु जब उसे ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के है, तब उसके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थी कि उनके पतिदेव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके(रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थी। पास उनकी देवरानी भी बैठी थी। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थी। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालुम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले उनके नन्हें -नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लौट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उसके हृदय को शीतल कर रहीं थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गई। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यह विश्वास होता कि रामेश्वरी उन बच्चों की माता है।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उसकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।" कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उसकी भौहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष भाव जाग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए और मुस्कराकर बोले- "आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं। इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी उनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उसे अपनी कमजोरी पर बड़ा दु:ख हुआ। केवल दु:ख ही नहीं, अपने उपर क्रोध भी आया। वह दु:ख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उसकी कमजोरी पति पर प्रगट हो गई, यह बात उसके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले- "इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत हृदय से कही थी, परंतु रामेश्वरी को इसमें व्यंग की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा- "इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जाएँ, पाप कटे! आठों पहर आँखो के सामने रहने से प्यार को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।"

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा- "अब झेंपने से क्या लाभ। अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भभुनकर बोली- "मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे। निगोड़े आप ही आ-आ के घुसते हैं। एक घर में रहने में कभी-कभी हँसना बोलना पड़ता ही है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न वों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा- "न जाने कैसे हृदय की स्त्री है! अभी अच्छी-खासी बैठी बच्चों से प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालुम होता है, तो न कहा करूँगा। पर इतना याद रखो कि अब कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा। तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वे आँखो द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्राय: बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय

नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके। इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की संभावना रहती है। परंतु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिसमें नाम बढ़ने के सिवा घटने की आशंका रहती ही नहीं।

में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने यह सोचा- पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, हर समय बुरा-भला कहा करते हैं, इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं। दुनिया मरती जाती है, पर दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाउँगी। इन्होंने ही मेरे घर का सत्यानाश कर रक्खा है।च्चों और मुस्कराकर बोले-"आज

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, अपनी निज की संतान का अभाव, पति का भाई की संतान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी और लगाने के लिए टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई। और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

संध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, क्या आनंद आवे ! देर तक गिरने की आशा करने के बाद दौड़कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला- "ताई, हमें पतंग मँगा दो।" रामेश्वरी ने झिड़क कर कहा- "चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ-सा होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर रहा न गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यंत करूण स्वर में कहा- "ताई मँगा दो, हम भी उड़ाएँगे।"

इन बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी और स्थिर दृष्टि से देखती रही। फिर उन्होंने एक लंबी साँस लेकर मन ही मन कहा- यह मेरा पुत्र होता तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़ा-मरा कितना सुंदर है, और कैसी प्यारी- प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली थीं कि इतने में उन्हें मौन देखकर बोला- "तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवायेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुँह क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़क कर बोली- "जा कह दे अपने ताऊजी से देखें, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा- यह सब ताउजी के दुलार का फल है कि बालिश्त भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे, इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के उपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहार-दीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहाँ पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिए वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उसके पास से होकर छज्जे पर चला गया, और उससे दो फिट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे घर के आँगन में जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँड़ेर पर रखकर मनोकर ने नीचे आँगन में झाँका और पतंग को आँगन में गिरते देख, वह प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्रता से घूमा, परंतु घूमते समय मुँड़ेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँड़ेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया "ताई!"

रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उसके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जाएगा। यही सोच कर वह एक क्षण रूकी। इधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यंत भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया- "अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह में आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही कि मनोहर के हाथ से मुँड़ेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मार कर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार से बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी जोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं- "देखो-देखो, वह गिरा जा रहा है- उसे बचाओ, दौड़ो- मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं- "बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती तो बचा सकती थी- देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी, टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा- "मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया- "अच्छा है।"

रामेश्वरी- "उसे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई, हिचकियों से गला रुँध गया। रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर और उसकी बहन चुन्नी से द्वेष नहीं करतीं। और मनोहर तो अब उसका प्राणाधार हो गया। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

सोना हिरनी

– महादेवी वर्मा

> **आकाश में रंगबिरंगे फूलों की घटाओं के समान उड़ते हुए और वीणा, वंशी, मुरज, जलतरंग आदि का वृन्दवादन (आर्केस्ट्रा) बजाते हुए पक्षी कितने सुन्दर जान पड़ते हैं। मनुष्य ने बन्दूक उठाई, निशाना साधा और कई गाते-उड़ते पक्षी धरती पर ढेले के समान आ गिरे। किसी की लाल-पीली चोंचवाली गर्दन टूट गई है, किसी के पीले सुन्दर पंजे टेढ़े हो गए हैं और किसी के इन्द्रधनुषी पंख बिखर गए हैं। क्षतविक्षत रक्तस्नात उन मृत-अर्धमृत लघु गातों में न अब संगीत है; न सौन्दर्य, परन्तु तब भी मारनेवाला अपनी सफलता पर नाच उठता है। पक्षीजगत में ही नहीं, पशुजगत में भी मनुष्य की ध्वंसलीला ऐसी ही निष्ठुर है।**

सोना की आज अचानक स्मृति हो आने का कारण है। मेरे परिचित स्वर्गीय डाक्टर धीरेन्द्र नाथ वसु की पौत्री सस्मिता ने लिखा है :

'गत वर्ष अपने पड़ोसी से मुझे एक हिरन मिला था। बीते कुछ महीनों में हम उससे बहुत स्नेह करने लगे हैं। परन्तु अब मैं अनुभव करती हूँ कि सघन जंगल से सम्बद्ध रहने के कारण तथा अब बड़े हो जाने के कारण उसे घूमने के लिए अधिक विस्तृत स्थान चाहिए।

'क्या कृपा करके उसे स्वीकार करेंगी? सचमुच मैं आपकी बहुत आभारी हूँगी, क्योंकि आप जानती हैं, मैं उसे ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहती, जो उससे बुरा व्यवहार करे। मेरा विश्वास है, आपके यहाँ उसकी भली भाँति देखभाल हो सकेगी।'

कई वर्ष पूर्व मैंने निश्चय किया कि अब हिरन नहीं पालूँगी, परन्तु आज उस नियम को भंग किए बिना इस कोमल-प्राण जीव की रक्षा सम्भव नहीं है।

सोना भी इसी प्रकार अचानक आई थी, परन्तु वह तब तक अपनी शैशवावस्था भी पार नहीं कर सकी थी। सुनहरे रंग के रेशमी लच्छों की गाँठ के समान उसका कोमल लघु शरीर था। छोटा-सा मुँह और बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें। देखती थी तो लगता था कि अभी छलक पड़ेंगी। उनमें प्रसुप्त गति की बिजली की लहर आँखों में कौंध जाती थी।

सब उसके सरल शिशु रूप से इतने प्रभावित हुए कि किसी चम्पकवर्णा रूपसी के उपयुक्त सोना, सुवर्णा, स्वर्णलेखा आदि नाम उसका परिचय बन गए।

परन्तु उस बेचारे हरिण-शावक की कथा तो मिट्टी की ऐसी व्यथा कथा है, जिसे मनुष्य निष्ठुरता गढ़ती है। वह न किसी दुर्लभ खान के अमूल्य हीरे की कथा है और न अथाह समुद्र के महार्घ मोती की।

निर्जीव वस्तुओं से मनुष्य अपने शरीर का प्रसाधन मात्र करता है, अत: उनकी स्थिति मं। परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ कथनीय नहीं रहता। परन्तु सजीव से उसे शरीर या अहंकार का जैसा पोषण अभीष्ट है, उसमें जीवन-मृत्यु का संघर्ष है, जो सारी जीवनकथा का तत्व है।

जिन्होंने हरीतिमा में लहराते हुए मैदान पर छलाँगें भरते हुए हिरनों के झुंड को देखा होगा, वही उस अद्भुत, गतिशील सौन्दर्य की कल्पना कर सकता है। मानो तरल मरकत के समुद्र में सुनहले फेनवाली लहरों का उद्वेलन हो। परन्तु जीवन के इस चल सौन्दर्य के प्रति शिकारी का आकर्षण नहीं रहता।

मैं प्राय: सोचती हूँ कि मनुष्य जीवन की ऐसी सुन्दर ऊर्जा को निष्क्रिय और जड़ बनाने के कार्य को मनोरंजन कैसे कहता है।

मनुष्य मृत्यु को असुन्दर ही नहीं, अपवित्र भी मानता है। उसके प्रियतम आत्मीय जन

का शव भी उसके निकट अपवित्र, अस्पृश्य तथा भयजनक हो उठता है। जब मृत्यु इतनी अपवित्र और असुन्दर है, तब उसे बाँटते घूमना क्यों अपवित्र और असुन्दर कार्य नहीं है, यह मैं समझ नहीं पाती।

आकाश में रंगबिरंगे फूलों की घटाओं के समान उड़ते हुए और वीणा, वंशी, मुरज, जलतरंग आदि का वृन्दवादन (आर्केस्ट्रा) बजाते हुए पक्षी कितने सुन्दर जान पड़ते हैं। मनुष्य ने बन्दूक उठाई, निशाना साधा और कई गाते-उड़ते पक्षी धरती पर ढेले के समान आ गिरे। किसी की लाल-पीली चोंचवाली गर्दन टूट गई है, किसी के पीले सुन्दर पंजे टेढ़े हो गए हैं और किसी के इन्द्रधनुषी पंख बिखर गए हैं। क्षतविक्षत रक्तस्नात उन मृत-अर्धमृत लघु गातों में न अब संगीत है; न सौन्दर्य, परन्तु तब भी मारनेवाला अपनी सफलता पर नाच उठता है।

पक्षिजगत में ही नही, पशुजगत में भी मनुष्य की ध्वंसलीला ऐसी ही निष्ठुर है। पशुजगत में हिरन जैसा निरीह और सुन्दर पशु नहीं है - उसकी आँखें तो मानो करुणा की चित्रलिपि हैं। परन्तु इसका भी गतिमय, सजीव सौन्दर्य मनुष्य का मनोरंजन करने में असमर्थ है। मानव को, जो जीवन का श्रेष्ठतम रूप है, जीवन के अन्य रूपों के प्रति इतनी वितृष्णा और विरक्ति और मृत्यु के प्रति इतना मोह और इतना आकर्षण क्यों?

बेचारी सोना भी मनुष्य की इसी निष्ठुर मनोरंजनप्रियता के कारण अपने अरण्य-परिवेश और स्वजाति से दूर मानव समाज में आ पड़ी थी।

प्रशान्त वनस्थली में जब अलस भाव से रोमन्थन करता हुआ मृग समूह शिकारियों की आहट से चौंककर भागा, तब सोना की माँ सद्य:प्रसूता होने के कारण भागने में असमर्थ रही। सद्य:जात मृगशिशु तो भाग नहीं सकता था, अत: मृगी माँ ने अपनी सन्तान को अपने शरीर की ओट में सुरक्षित रखने के प्रयास में प्राण दिए।

पता नहीं, दया के कारण या कौतुकप्रियता के कारण शिकारी मृत हिरनी के साथ उसके रक्त से सने और ठंडे स्तनों से चिपटे हुए शावक को जीवित उठा लाए। उनमें से किसी के परिवार की सदय गृहिणी और बच्चों ने उसे पानी मिला दूध पिला-पिलाकर दो-चार दिन जीवित रखा।

सुस्मिता वसु के समान ही किसी बालिका को मेरा स्मरण हो आया और वह उस अनाथ शावक को मुमूर्ष अवस्था में मेरे पास ले आई। शावक अवांछित तो था ही, उसके बचने की आशा भी धूमिल थी, परन्तु मैंने उसे स्वीकार कर लिया। स्निग्ध सुनहले रंग के कारण सब उसे सोना कहने लगे। दूध पिलाने की शीशी, ग्लूकोज, बकरी का दूध आदि सब कुछ एकत्र करके, उसे पालने का कठिन अनुष्ठान आरम्भ हुआ।

उसका मुख इतना छोटा-सा था कि उसमें शीशी का निपल समाता ही नहीं था - उस पर उसे पीना भी नहीं आता था। फिर धीरे-धीरे उसे पीना ही नहीं, दूध की बोतल पहचानना भी आ गया। आँगन में कूदते-फाँदते हुए भी भक्तिन को बोतल साफ करते देखकर वह दौड़ आती और अपनी तरल चकित आँखों से उसे ऐसे देखने लगती, मानो वह कोई सजीव मित्र हो।

उसने रात में मेरे पलंग के पाये से सटकर बैठना सीख लिया था, पर वहाँ गंदा न करने की आदत कुछ दिनों के अभ्यास से पड़ सकी। अँधेरा होते ही वह मेरे कमरे में पलंग के पास आ बैठती और फिर सवेरा होने पर ही बाहर निकलती।

उसका दिन भर का कार्यकलाप भी एक प्रकार से निश्चित था। विद्यालय और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के निकट पहले वह कौतुक का कारण रही, परन्तु कुछ दिन बीत जाने पर वह उनकी ऐसी प्रिय साथिन बन गई, जिसके बिना उनका किसी काम में मन नहीं लगता था।

दूध पीकर और भीगे चने खाकर सोना कुछ देर कम्पाउण्ड में चारों पैरों को सन्तुलित कर चौकड़ी भरती। फिर वह छात्रावास पहुँचती और प्रत्येक कमरे का भीतर, बाहर निरीक्षण करती। सवेरे छात्रावास में विचित्र-सी क्रियाशीलता रहती है - कोई छात्रा हाथ-मुँह धोती है, कोई बालों में कंघी करती है, कोई साड़ी बदलती है, कोई अपनी मेज की सफाई करती है, कोई स्नान करके भीगे कपड़े सूखने के लिए फैलाती है और कोई पूजा करती है। सोना के पहुँच जाने पर इस विविध कर्म-संकुलता में एक नया काम और जुड़ जाता था। कोई छात्रा उसके माथे पर कुमकुम का बड़ा-सा टीका लगा देती, कोई गले में रिबन बाँध देती और कोई पूजा के बताशे खिला देती। मेस में उसके पहुँचते ही छात्राएँ ही नहीं, नौकर-चाकर तक दौड़ आते और सभी उसे कुछ-न-कुछ खिलाने को उतावले रहते, परन्तु उसे बिस्कुट को छोड़कर कम खाद्य पदार्थ पसन्द थे।

छात्रावास का जागरण और जलपान अध्याय समाप्त होने पर वह घास के मैदान में कभी दूब चरती और कभी उस पर लोटती रहती। मेरे भोजन का समय वह किस प्रकार जान लेती थी, यह समझने का उपाय नहीं है, परन्तु वह ठीक उसी समय भीतर आ जाती और तब तक मुझसे सटी खड़ी रहती जब तक मेरा खाना समाप्त न हो जाता। कुछ चावल, रोटी आदि उसका भी प्राप्य रहता था, परन्तु उसे कच्ची सब्जी ही अधिक भाती थी।

घंटी बजते ही वह फिर प्रार्थना के मैदान में पहुँच जाती और उसके समाप्त होने पर छात्रावास के समान ही कक्षाओं के भीतर-बाहर चक्कर लगाना आरम्भ करती।

उसे छोटे बच्चे अधिक प्रिय थे, क्योंकि उनके साथ खेलने का अधिक अवकाश रहता था। वे पंक्तिबद्ध खड़े होकर सोना-सोना पुकारते और वह उनके ऊपर से छलाँग लगाकर एक ओर से दूसरी ओर कूदती रहती। सरकस जैसा खेल कभी घंटों चलता, क्योंकि खेल के घंटों

> कविगुरु कालिदास ने अपने नाटक में मृगी-मृग-शावक आदि को इतना महत्व क्यों दिया है, यह हिरन पालने के उपरान्त ही ज्ञात होता है। पालने पर वह पशु न रहकर ऐसा स्नेही संगी बन जाता है, जो मनुष्य के एकान्त शून्य को भर देता है, परन्तु खीझ उत्पन्न करने वाली जिज्ञासा से उसे बेझिल नहीं बनाता। यदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से केवल नेत्रों से बात कर सकता, तो बहुत-से विवाद समाप्त हो जाते, परन्तु प्रकृति को यह अभीष्ट नहीं रहा होगा। सम्भवत: इसी से मनुष्य वाणी द्वारा परस्पर किए गए आघातों और सार्थक शब्दभार से अपने प्राणों पर इन भाषाहीन जीवों की स्नेह तरल दृष्टि का चन्दन लेप लगाकर स्वस्थ और आश्वस्त होना चाहता है।

में बच्चों की कक्षा के उपरान्त दूसरी आती रहती।

मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन के उसके कई प्रकार थे। बाहर खड़े होने पर वह सामने या पीछे से छलाँग लगाती और मेरे सिर के ऊपर से दूसरी ओर निकल जाती। प्राय: देखनेवालों को भय होता था कि उसके पैरों से मेरे सिर पर चोट न लग जावे, परन्तु वह पैरों को इस प्रकार सिकोड़े रहती थी और मेरे सिर को इतनी ऊँचाई से लाँघती थी कि चोट लगने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती थी।

भीतर आने पर वह मेरे पैरों से अपना शरीर रगड़ने लगती। मेरे बैठे रहने पर वह साड़ी का छोर मुँह में भर लेती और कभी पीछे चुपचाप खड़े होकर चोटी ही चबा डालती। डाँटने पर वह अपनी बड़ी गोल और चकित आँखों में ऐसी अनिर्वचनीय जिज्ञासा भरकर एकटक देखने लगती कि हँसी आ जाती।

कविगुरु कालिदास ने अपने नाटक में मृगी-मृग-शावक आदि को इतना महत्व क्यों दिया है, यह हिरन पालने के उपरान्त ही ज्ञात होता है।

पालने पर वह पशु न रहकर ऐसा स्नेही संगी बन जाता है, जो मनुष्य के एकान्त शून्य को भर देता है, परन्तु खीझ उत्पन्न करने वाली जिज्ञासा से उसे बेझिल नहीं बनाता। यदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से केवल नेत्रों से बात कर सकता, तो बहुत-से विवाद समाप्त हो जाते, परन्तु प्रकृति को यह अभीष्ट नहीं रहा होगा।

सम्भवत: इसी से मनुष्य वाणी द्वारा परस्पर किए गए आघातों और सार्थक शब्दभार से अपने प्राणों पर इन भाषाहीन जीवों की स्नेह तरल दृष्टि का चन्दन लेप लगाकर स्वस्थ और आश्वस्त होना चाहता है।

सरस्वती वाणी से ध्वनित-प्रतिध्वनित कण्व के आश्रम में ऋषियों, ऋषि-पत्नियों, ऋषि-कुमार-कुमारिकाओं के साथ मूक अज्ञान मृगों की स्थिति भी अनिवार्य है। मन्त्रपूत कुटियों के द्वार को नीहारकण चाहने वाले मृग रुँध लेते हैं। विदा लेती हुई शकुन्तला का गुरुजनों के उपदेश-आशीर्वाद से बेझिल अंचल, उसका अपत्यवत पालित मृगछौना थाम लेता है।

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंडगुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।

श्यामाकमुष्टि परिवर्धिंतको जहाति

सो यं न पुत्रकृतक: पदवीं मृगस्ते॥

- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

शकुन्तला के प्रश्न करने पर कि कौन मेरा अंचल खींच रहा है, कण्व कहते हैं :

कुश के काँटे से जिसका मुख छिद जाने पर तू उसे अच्छा करने के लिए हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तूने मुट्ठी भर-भर सावाँ के दानों से पाला है, जो तेरे निकट पुत्रवत् है, वही तेरा मृग तुझे रोक रहा है।

साहित्य ही नहीं, लोकगीतों की मर्मस्पर्शिता में भी मृगों का विशेष योगदान रहता है।

पशु मनुष्य के निश्छल स्नेह से परिचित रहते हैं, उनकी ऊँची-नीची सामाजिक स्थितियों से नहीं, यह सत्य मुझे सोना से अनायास प्राप्त हो गया।

अनेक विद्यार्थिनियों की भारी-भरकम गुरूजी से सोना को क्या लेना-देना था। वह तो उस दृष्टि को पहचानती थी, जिसमें उसके लिए स्नेह छलकता था और उन हाथों को जानती थी, जिन्होंने यत्नपूर्वक दूध की बोतल उसके मुख से लगाई थी।

यदि सोना को अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए मेरे सिर के ऊपर से कूदना आवश्यक लगेगा तो वह कूदेगी ही। मेरी किसी अन्य परिस्थिति से प्रभावित होना, उसके लिए सम्भव ही नहीं था।

कुत्ता स्वामी और सेवक का अन्तर जानता है और स्वामी की स्नेह या क्रोध की प्रत्येक मुद्रा से परिचित रहता है। स्नेह से बुलाने पर वह गदगद होकर निकट आ जाता है और क्रोध करते ही सभीत और दयनीय बनकर दुबक जाता है।

पर हिरन यह अन्तर नहीं जानता, अत: उसका अपने पालनेवाले से डरना कठिन है। यदि उस पर क्रोध किया जावे तो वह अपनी चकित आँखों में और अधिक विस्मय भरकर पालनेवाले की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर खड़ा रहेगा - मानो पूछता हो, क्या यह उचित है? वह केवल स्नेह पहचानता है, जिसकी स्वीकृति जताने के लिए उसकी विशेष चेष्टाएँ हैं।

मेरी बिल्ली गोधूली, कुत्ते हेमन्त-वसन्त, कुत्ती फ्लोरा सब पहले इस नए अतिथि को देखकर रुष्ट हुए, परन्तु सोना ने थोड़े ही दिनों में सबसे सख्य स्थापित कर लिया। फिर तो वह घास पर लेट जाती और कुत्ते-बिल्ली उस पर उछलते-कूदते रहते। कोई उसके कान खींचता, कोई पैर और जब वे इस खेल में तन्मय हो जाते, तब वह अचानक चौकड़ी भरकर भागती और वे

गिरते-पड़ते उसके पीछे दौड़ लगाते।

वर्ष भर का समय बीत जाने पर सोना हरिण शावक से हरिणी में परिवर्तित होने लगी। उसके शरीर के पीताभ रोयें ताम्रवर्णी झलक देने लगे। टाँगें अधिक सुडौल और खुरों के कालेपन में चमक आ गई। ग्रीवा अधिक बंकिम और लचीली हो गई। पीठ में भराव वाला उतार-चढ़ाव और स्निग्धता दिखाई देने लगी। परन्तु सबसे अधिक विशेषता तो उसकी आँखों और दृष्टि में मिलती थी। आँखों के चारों ओर खिंची कज्जल कोर में नीले गोलक और दृष्टि ऐसी लगती थी, मानो नीलम के बल्बों में उजली विद्युत का स्फुरण हो।

सम्भवत: अब उसमें वन तथा स्वजाति का स्मृति-संस्कार जागने लगा था। प्राय: सूने मैदान में वह गर्दन ऊँची करके किसी की आहट की प्रतीक्षा में खड़ी रहती। वासन्ती हवा बहने पर यह मूक प्रतीक्षा और अधिक मार्मिक हो उठती। शैशव के साथियों और उनकी उछल-कूद से अब उसका पहले जैसा मनोरंजन नहीं होता था, अत: उसकी प्रतीक्षा के क्षण अधिक होते जाते थे।

इसी बीच फ्लोरा ने भक्तिन की कुछ अँधेरी कोठरी के एकान्त कोने में चार बच्चों को जन्म दिया और वह खेल के संगियों को भूल कर अपनी नवीन सृष्टि के संरक्षण में व्यस्त हो गई। एक-दो दिन सोना अपनी सखी को खोजती रही, फिर उसे इतने लघु जीवों से घिरा देख कर उसकी स्वाभाविक चकित दृष्टि गम्भीर विस्मय से भर गई।

एक दिन देखा, फ्लोरा कहीं बाहर घूमने गई है और सोना भक्तिन की कोठरी में निश्चिन्त लेटी है। पिल्ले आँखें बन्द करने के कारण चीं-चीं करते हुए सोना के उदर में दूध खोज रहे थे। तब से सोना के नित्य के कार्यक्रम में पिल्लों के बीच लेट जाना भी सम्मिलित हो गया। आश्चर्य की बात यह थी कि फ्लोरा, हेमन्त, वसन्त या गोधूली को तो अपने बच्चों के पास फटकने भी नहीं देती थी, परन्तु सोना के संरक्षण में उन्हें छोड़कर आश्वस्त भाव से इधर-उधर घूमने चली जाती थी।

सम्भवत: वह सोना की स्नेही और अहिंसक प्रकृति से परिचित हो गई थी। पिल्लों के बड़े होने पर और उनकी आँखें खुल जाने पर सोना ने उन्हें भी अपने पीछे घूमनेवाली सेना में सम्मिलित कर लिया और मानो इस वृद्धि के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाने के लिए अधिक देर तक मेरे सिर के आरपार चौकड़ी भरती रही। पर कुछ दिनों के उपरान्त जब यह आनन्दोत्सव पुराना पड़ गया, तब उसकी शब्दहीन, संज्ञाहीन प्रतीक्षा की स्तब्ध घड़ियाँ फिर लौट आईं।

उसी वर्ष गर्मियों में मेरा बद्रीनाथ-यात्रा का कार्यक्रम बना। प्राय: मैं अपने पालतू जीवों के कारण प्रवास कम करती हूँ। उनकी देखरेख के लिए सेवक रहने पर भी मैं उन्हें छोड़कर आश्वस्त नहीं हो पाती। भक्तिन, अनुरूप (नौकर) आदि तो साथ जाने वाले थे ही, पालतू जीवों में से मैंने फ्लोरा को साथ ले जाने का निश्चिय किया, क्योंकि वह मेरे बिना रह नहीं सकती थी।

छात्रावास बन्द था, अत: सोना के नित्य नैमित्तिक कार्य-कलाप भी बन्द हो गए थे। मेरी उपस्थिति का भी अभाव था, अत: उसके आनन्दोल्लास के लिए भी अवकाश कम था।

हेमन्त-वसन्त मेरी यात्रा और तज्जनित अनुपस्थिति से परिचित हो चुके थे। होल्डाल बिछाकर उसमें बिस्तर रखते ही वे दौड़कर उस पर लेट जाते और भौंकने तथा क्रन्दन की ध्वनियों के सम्मिलित स्वर में मुझे मानो उपालम्भ देने लगते। यदि उन्हें बाँध न रखा जाता तो वे कार में घुसकर बैठ जाते या उसके पीछे-पीछे दौड़कर स्टेशन तक जा पहुँचते। परन्तु जब मैं चली जाती, तब वे उदास भाव से मेरे लौटने की प्रतीक्षा करने लगते।

सोना की सहज चेतना में मेरी यात्रा जैसी स्थिति का बोध था, नप्रत्यावर्तन का; इसी से उसकी निराश जिज्ञासा और विस्मय का अनुमान मेरे लिए सहज था।

पैदल जाने-आने के निश्चय के कारण बद्रीनाथ की यात्रा में ग्रीष्मावकाश समाप्त हो गया। 2 जुलाई को लौटकर जब मैं बँगले के द्वार पर आ खड़ी हुई, तब बिछुड़े हुए पालतू जीवों में कोलाहल होने लगा।

गोधूली कूदकर कन्धे पर आ बैठी। हेमन्त-वसन्त मेरे चारों ओर परिक्रमा करके हर्ष की ध्वनियों में मेरा स्वागत करने लगे। पर मेरी दृष्टि सोना को खोजने लगी। क्यों वह अपना उल्लास व्यक्त करने के लिए मेरे सिर के ऊपर से छलाँग नहीं लगाती? सोना कहाँ है, पूछने पर माली आँखें पोंछने लगा और चपरासी, चौकीदार एक-दूसरे का मुख देखने लगे। वे लोग, आने के साथ ही मुझे कोई दु:खद समाचार नहीं देना चाहते थे, परन्तु माली की भावुकता ने बिना बोले ही उसे दे डाला।

ज्ञात हुआ कि छात्रावास के सन्नाटे और फ्लोरा के तथा मेरे अभाव के कारण सोना इतनी अस्थिर हो गई थी कि इधर-उधर कुछ खोजती-सी वह प्राय: कम्पाउण्ड से बाहर निकल जाती थी। इतनी बड़ी हिरनी को पालनेवाले तो कम थे, परन्तु उससे खाद्य और स्वाद प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का बाहुल्य था। इसी आशंका से माली ने उसे मैदान में एक लम्बी रस्सी से बाँधना आरम्भ कर दिया था।

एक दिन न जाने किस स्तब्धता की स्थिति में बन्धन की सीमा भूलकर बहुत ऊचाँई तक उछली और रस्सी के कारण मुख के बल धरती पर आ गिरी। वही उसकी अन्तिम साँस और अन्तिम उछाल थी।

सब उस सुनहले रेशम की गठरी के शरीर को गंगा में प्रवाहित कर आए और इस प्रकार किसी निर्जन वन में जन्मी और जन-संकुलता में पली सोना की करुण कथा का अन्त हुआ।

यह सुनकर मैंने निश्चय किया था कि हिरन नहीं पालूँगी, पर संयोग से फिर हिरन ही पालना पड़ रहा है।

पहेली

– उपेन्द्रनाथ अश्क

उर्मिला, उसकी पत्नी, अनुपम सुन्दरी थी, कल्पना से बनी हुई सुन्दर प्रतिमा-सी! मीठे, मादक स्वर में रूप में विधि ने उसे जादू दे डाला था। संगीत-कला में उसने विशेष क्षमता प्राप्त कर ली थी और यह गुण सोने में सुगन्ध का काम कर रहा था। जब भी कभी वह अपनी कोमल उंगलियों को सितार के पर्दों पर रखती और कान उमेठ कर तारों को छेड़ती तो सोये हुए उद्गार जाग उठते और कानों के रास्ते मिठास और मस्ती का एक समुद्र श्रोता की नस-नस में व्याप्त हो कर रह जाता। रामदयाल उस पर जी-जान से मुग्ध था और वह भी उसे हृदय की समस्त शक्तियों से प्यार करती थी। दोनों को एक-दूसरे पर गर्व था, किन्तु यह सब कुछ स्थायी न हो सका। असार संसार में कोई वस्तु स्थायी हो भी कैसे सकती है? मनोमालिन्य की आँधी ने मुहब्बत के इस छोटे-से पौधे को क्षण भर में बर्बाद कर दिया।

रामदयाल पूरा बहुरूपिया था। भेस और आवाज बदलने में उसे कमाल हासिल था। कॉलेज मे पढ़ता था तो वहाँ उसके अभिनय की धूम मची रहती थी; अब सिनेमा की दुनिया में आ गया था तो यहाँ उसकी चर्चा थी। कॉलेज से डिग्री लेते ही उसे बम्बई की एक फिल्म-कम्पनी में अच्छी जगह मिल गयी थी और अल्प-काल ही में उसकी गणना भारत के श्रेष्ठ अभिनेताओं में होने लगी थी। लोग उसके अभिनय को देख कर आश्चर्यचकित रह जाते थे। उसके पास प्रतिभा थी, कला थी और ख्याति के उच्च शिखर पर पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा! इसीलिए जिस पात्र की भूमिका में काम करता बहुरूप और अभिनय मे वह बात पैदा कर देता था कि दर्शक अनायास ही 'वाह-वाह' कर उठते और फिर हफ्तों उसकी कला की चर्चा लोगों में चला करती।

दो महीने हुए, उस की शादी हुई थी। बम्बई की एक निकटवर्ती बस्ती में छोटी-सी एक कोठी किराये पर ले कर वह रहने लगा था। कभी समय था कि वह निर्धन कहता था, परन्तु अब तो वह धन-सम्पत्ति में खेलता था। रूपये की उसे क्या परवाह थी? उसका विवाह भी उच्च घराने में हुआ था। पत्नी भी सुन्दर और सुशिक्षित मिली थी। जिस प्रकार बादल सूखी धरती पर अमृत की वर्षा कर के उसे तृप्त कर देता है, उसी प्रकार निर्धनता से सूखे हुए रामदयाल के हृदय को विधाता ने वैभव की वर्षा से सींच दिया था। सन्ध्या का समय था। साये बढ़ते-बढ़ते किसी भयानक देव की भांति संसार पर छा गये थे। रामदयाल लायब्रेरी में बैठा था। अभी तक कमरे में बिजली न जली थी और वह किवाड़ के समीप कुर्सी रखे एक लेख पढ़ने में निमग्न था।

चपरासी ने बिजली का बटन दबाया। क्षण भर में रोशनी से कमरा जगमगा उठा। रामदयाल ने रूमाल से ऐनक को साफ किया और फिर लेख पर अपनी दृष्टि जमा दी। वह 'नवयुग' का 'महिला-अंक' देख रहा था। अंक देखना तो उसने योंहीं शुरू किया था, परन्तु एक लेख कुछ ऐसा रोचक था कि एक बार जो पढ़ना आरम्भ किया तो समाप्त किये बिना जी न माना।

लेख में किसी अभिनेता के अभिनय की विवेचना न थी। छद्मवेष कला पर कोई नयी बात न लिखी गयी थी। एक सीधा-साधा लेख था, जिसमें नारी स्वभाव पर एक नूतन दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला गया था। एक सर्वथा नयी बात थी। लिखा था --

"स्त्री प्रेम की देवी है। वह अपने प्रिय पति के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर सकती है। वह उस की पूजा कर सकती है, पर यदि उस का पति उस के प्रेम की अवहेलना करे, उसकी मुहब्बत को ठुकरा दे तो अवसर मिलने पर वह अपने प्रेम की तृषा बुझाने के लिए किसी दूसरी चीज को ढूंढ़ लेती है -- चाहे वह चल हो या अचल, सजीव हो या निर्जीव! यही प्रकृति का नियम है।"

रामदयाल उठा और गम्भीर मुद्रा धारण किये हुए पुस्तकालय के बाहर निकल आया। सड़क रोशनी से नव-वधू की भांति सज रही थी। रामदयाल अपने हृदय की गति के समान धीरे-धीरे चला जा रहा था। उसे देख कर कौन कह सकता था कि यह वही प्रसिद्ध अभिनेता है, जो अपनी कला से भारत भर को चकित कर देता है!

.. उर्मिला, उसकी पत्नी, अनुपम सुन्दरी थी, कल्पना से बनी हुई सुन्दर प्रतिमा-सी! मीठे, मादक स्वर में रूप में विधि ने उसे जादू दे डाला था। संगीत-कला में उसने विशेष क्षमता प्राप्त कर ली थी और यह गुण सोने में सुगन्ध का काम कर रहा था। जब भी कभी वह अपनी कोमल उंगलियों को सितार के पर्दों पर रखती और कान उमेठ कर तारों को छेड़ती तो सोये हुए उद्गार जाग उठते और कानों के रास्ते मिठास और मस्ती का एक समुद्र श्रोता की नस-नस में व्याप्त हो कर रह जाता।

रामदयाल उस पर जी-जान से मुग्ध था और वह भी उसे हृदय की समस्त शक्तियों से प्यार करती थी। दोनों को एक-दूसरे पर गर्व था, किन्तु यह सब कुछ स्थायी न हो सका। असार संसार में कोई वस्तु स्थायी हो भी कैसे सकती है? मनोमालिन्य की आँधी ने मुहब्बत के इस छोटे-से पौधे को क्षण भर में बर्बाद कर दिया।

उर्मिला नीचे ड्राइंग-रूम में बैठी थी। वह रामदयाल की प्रतीक्षा कर रही थी। सामने के भवन में आज कोई युवक घूम रहा था। वह कुतूहलवश उसे भी देख रही थी। उसके कान सीढ़ियों की ओर लगे हुए थे, परन्तु आँखें उस युवक को बेचैनी से घूमते देख रही थीं। वह कोठी कई दिनों से खाली थी, परन्तु अब कुछ दिन से इसे किसी ने किराये पर ले लिया था उसने दो-तीन बार किसी युवक को बिजली के प्रकाश में घूमते देखा था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वह बेचैन हो, जैसे आकुलता उसे बैठने न देती हो।

अँगीठी पर रखी हुई घड़ी ने टन-टन नौ बजाये। सामने के भवन में रोशनी बुझ गयी। उर्मिला अपने आपको अकेली-सी महसूस करने लगी। उसने सितार उठाया, उसकी कोमल उँगलियाँ उसके पर्दो पर थिरकने लगीं, उसके अधर हिले और दूसरे क्षण एक करूणापूर्ण गीत वायुमण्डल में गूँज उठा -- सखि इन नैनन ते घन हारे।

स्वर में दर्द था, लोच था और लय थी, सीने में प्रतीक्षा की आग थी। वह तन्मय हो गयी, अपनी मधुर ध्वनि में खो गयी और उसे यह भी मालूम न हुआ कि रामदयाल कब आया और कब तक किवाड़ की ओट में खड़ा उसे देखता रहा।

वह गाती गयी, बेसुध हो कर गाती गयी। उसकी आँखें सितार पर जमी हुई थीं, उसके कान सितार के मादक स्वर में डूब गये थे। रामदयाल की भृकुटी तन गयी और वह चुपचाप मुड़ गया। खाने के कमरे में उसने दासी से खाना मंगाया और खा कर सोने चला गया। उर्मिला गाती रही, अपने दर्द-भरे गीत को वायु के कण-कण में बसाती रही। देवता आया और चला गया, पुजारी उसकी पूजा ही में व्यस्त रहा।

दूसरे दिन रामदयाल प्रात: ही घर से चला गया और बहुत रात गये घर लौटा। उर्मिला दौड़ी-दौड़ी गयी और गंगासागर में पानी ले आयी।

रामदयाल के चेहरे से क्रोध टपक रहा था।

"आप इतनी देर कहाँ रहे?"

रामदयाल चुप।

उर्मिला ने पानी का भरा हुआ गंगासागर आगे रख दिया। घर में दो दासियाँ तो थीं, परन्तु पति की सेवा वह स्वयं किया करती थी। रामदयाल जब सन्ध्या को घर आया करता तो वह उसका हाथ-मुँह धुलाती, तश्तरी में कुछ खाने को लाती और स्टूडियो की खबरें पूछती। रामदयाल ने हाथ न बढ़ाये। वह चुपचाप खड़ी उसकी गम्भीर मुद्रा को देखती रही।

उसका हृदय धड़कने लगा। बीसियों प्रकार की शंकाएं उसके मन में उठने लगीं। उसने उन्हें बुलाने का इरादा किया, किन्तु झिड़क न दें, यह सोच कर चुप हो रही। आशा ने फिर गुदगुदी की, निराशा ने फिर दामन पकड़ लिया। मनुष्य के हृदय में जब सन्देह हो जाता है तो निराशा हमदर्द की भांति समीप आ जाती है और आशा मरीचिका बन कर भाग

उर्मिला खड़ी-की-खड़ी रह गयी। जैसे किसी जादूगरनी ने उसके सिर पर जादू की छड़ी फेर दी हो। वह स्फूर्ति और संकल्प, जो कुछ देर पहले उसके मन में पैदा हुए थे, सब हवा हो गये। इच्छा होने पर भी वह दोबारा न पूछ सकी। उदासी का कारण पूछना, उस अकारण क्रोध का गिला करना, अपने कसूर की माफी मांगना, सब कुछ भूल गयी। कल्पनाओं के भव्य प्रासाद पल भर में धराशायी हो गये। वह चुपचाप वापस चली आयी और सारी रात गीले बिस्तर पर सोये हुए मनुष्य की भांति करवटें बदलती रही। नींद न जाने कहाँ उड़ गयी थी?

जाती है। फिर भी उसने साहस करके पूछा --

"जी तो अच्छा है?"

"चुप रहो!"

"स्वामी?"

"मैं कहता हूँ, खामोश रहो!"

उर्मिला खड़ी-की-खड़ी रह गयी। निराशा ने आशा को ठुकरा दिया और अब उस में उठने का भी साहस न रहा।

उसे कल की घटना याद हो आयी, परन्तु साधारण-सी बात पर इतना क्रोध! वह समझ न सकी। उन्हें तो इस बात पर प्रसन्न होना चाहिए था। नहीं, यह बात नहीं; उससे अवश्य कोई दूसरी अवज्ञा हो गयी है। हो सकता है, किसी से झगड़ पड़े हों अथवा कोई दूसरी घटना घटी हो। अशुभ की आशंका से उस का मन उद्विग्न हो उठा। उसके चरणों पर झुकते हुए उसने कहा "दासी से कोई अपराध हो गयाहो तो क्षमा कर दें।"

रामदयाल ने पाँव खींच लिये, उर्मिला मुँह के बल गिरी। वह सोने चला गया।

उर्मिला बहुत देर तक उसी तरह बैठी रही और फिर लेट कर धरती में मुँह छिपा कर आँसू बहाने लगी। उसे विश्वास न होता था कि उसके पति ने इतनी-सी बात पर उसे नज़रों से गिरा दिया है। रामदयाल के प्रति उसके मन में कई प्रकार के विचार उठने लगे। उस ने उन्हें आज तक शिकायत का मौका न दिया था। उस ने उनकी साधारण-सी बात को भी सिर-आँखों पर लिया था, फिर यह निरादर क्यों?

उसे शंका होने लगी, 'कोई अभिनेत्री उनके जीवन-वृक्ष को विष से सींच रही है, ' किन्तु दूसरे क्षण अपने इन विचारों पर उसे घृणा हो आयी। ग्लानि से उसका सिर झुक गया। रामदयाल चाहे किसी के मोह में फंस जाये, परन्तु उर्मिला के लिये ऐसा सोचना भी पाप है। तो फिर वह अपने पति से इस अन्यमनस्कता का कारण ही क्यों न पूछ ले? क्या उसे इस बात का अधिकार नहीं? वह सहधर्मिणी नहीं क्या? अर्धांगिनी नहीं क्या?

यह सोच कर वह उठी। उसके शरीर में स्फूर्ति का संचार हो आया। वह जायेगी, अपने पति से इस क्रोध का कारण पूछ कर रहेगी और उस समय तक न छोडेगी, जब तक वे उसे सब कुछ न बता दें, या अपनी भुजाओं में भींच कर यह न कह दें -- मैं तो हंसी कर रहा था!

उसके मुख पर दृढ़-संकल्प के चिह्न प्रस्फुटित हो गये। वह उठी और धीरे-धीरे रामदयाल के कमरे में दाखिल हुई। वह लेटा हुआ था। उस के चेहरे पर एक गम्भीर मुस्कराहट खेल रही थी -- अव्यक्त वेदना की अथवा गुप्त-उल्लास की, कौन जाने?

उर्मिला के आते ही वह उठ बैठा। उसने कड़क कर कहा, "मेरे कमरे से निकल जाओ, जा कर सो रहो, मुझे तंग मत करो।"

"क्या अपराध "

"मैं कहता हूँ, चली जाओ!

उर्मिला खड़ी-की-खड़ी रह गयी। जैसे किसी जादूगरनी ने उसके सिर पर जादू की छड़ी फेर दी हो। वह स्फूर्ति और संकल्प, जो कुछ देर पहले उसके मन में पैदा हुए थे, सब हवा हो गये। इच्छा होने पर भी वह दोबारा न पूछ सकी। उदासी का कारण पूछना, उस अकारण क्रोध का गिला करना, अपने कसूर की माफी मांगना, सब कुछ भूल गयी। कल्पनाओं के भव्य प्रासाद पल भर में धराशायी हो गये। वह चुपचाप वापस चली आयी और सारी रात गीले बिस्तर पर सोये हुए मनुष्य की भांति करवटें बदलती रही। नींद न जाने कहाँ उड़ गयी थी?

समय के पंख लगा कर दिन उड़ते गये। रामदयाल अब घर में बहुत कम आता था। उर्मिला को सेवा के लिए दो दासियों में एक और की वृद्धि हो गयी थी। वह उनसे तंग आ गयी थी। वह सेवा की भूखी न थी, मुहब्बत की भूखी थी और मुहब्बत के फूल से उसकी जीवन-वाटिका सर्वथा शून्य थी। बरसात के बादल आकाश पर घिरे हुए थे। ठण्डी हवा साकी की चाल चल रही थी। बाहर किसी जगह पपीहा रह-रह कूक उठता था। वायु का एक झोंका अन्दर आया।

उर्मिला के हृदय में उल्लास के बदले अवसाद की एक लहर दौड़ गयी। हृदय की गहराइयों से एक लम्बी सांस निकल गयी। उसने सितार उठाया और विरह का एक गीत गाने लगी। उसकी आवाज़ में दर्द था, गम था और जलन थी। वायु-मण्डल उसके गीत से झंकृत हो कर रह गया। अपने गीत की तन्मयता में वह बाह्य संसार को भूल गयी। रात की नीरवता में उसका गीत वायु के कण-कण में बस गया।

सहसा सामने के भवन से, जैसे किसी ने सितार की आवाज़ के उत्तर में गाना आरम्भ किया -

पिया बिन चैन कहाँ मन को राग क्या था, किसी ने उर्मिला का दिल चीर कर सामने रख दिया था। वह अपना गाना भूल गयी और तन्मय हो कर सुनने लगी। क्या आवाज थी,

शाम का वक्त था। गाने वाला प्रलय के गीत गा रहा था। उस का एक-एक स्वर उर्मिला के हृदय में चुभा जा रहा था। वह उठी, ड्राइंग-रुम में आ गयी। उसका सितार असहाय भिखारी की भांति एक ओर पड़ा था। उस पर मिट्टी की एक हल्की-सी तह जम गयी थी। उसने उसे कपड़े से साफ किया और आवेश में आ कर चूम लिया। उसकी आँखों से आँसू छलक आये। गाने वाला गा रहा था। क्यों रुठ गये हमसे

कैसा जादू था? रूह खिंची चली जाती थी। एक महीने से वहाँ कोई सितार बजाया करता था, किन्तु उर्मिला ने कभी उस ओर ध्यान न दिया था। आज न जाने क्यों, उसका हृदय अनायास ही गीत की ओर आकर्षित हुआ जा रहा था। इच्छा हुई खिड़की में जा कर बैठ जाय, परन्तु फिर झिझक गयी, उसी तरह जैसे नया चोर चोरी करने से पहले हिचकिचाता है।

वह खिड़की से झांकने के लिए उठी। उसे अपने पति का ध्यान हो आया, वह फिर बैठ गयी। उसने सितार को उठाया, फिर रख दिया कि गाने वाला यह न समझ ले कि उसके गीत का उत्तर दिया जा रहा है। उठ कर उसने एक पुस्तक ले ली और पढ़ना आरम्भ कर दिया, परन्तु पढ़ने में उसका जी न लगा। उसे हर पंक्ति में यही अक्षर लिखे हुए दिखायी दिये --

पिया बिन चैन कहाँ मन को उठ कर उसने पुस्तक को फेंक दिया और आराम-कुर्सी पर लेट गयी। गाने वाला अब भी गा रहा था ओर गीत उसकी एक-एक नस में बसा जा रहा था। विवश हो कर वह उठी। उस ने सितार को उठाया, तारों में झनकार पैदा हुई, तारों पर उंगलियाँ थिरकने लगीं और वह धीरे-धीरे गाने लगी। शनैः-शनैः उसका स्वर ऊंचा होता गया, यहाँ तक कि वह बेसुध हो कर पूरी आवाज से गा उठी :

पिया बिन चैन कहाँ मन को

गीत समाप्त हो गया, वायु-मण्डल के कण-कण पर छाया हुआ जादू टूट गया। वह जल्दी से उठ कर खिड़की में चली गयी। उसने देखा, युवक सितार पर हाथ रखे उस का गाना सुन रहा है।

उसके शरीर में सनसनी दौड़ गयी -- विजय की सनसनी! उस समय वह रामदयाल, उसकी मुहब्बत, उसकी जुदाई, सब कुछ भूल गयी। उसके हृदय में, उसके मस्तिष्क में केवल एक ही विचार बस गया -- उसने दूसरे रागी को मात कर दिया है!

इसके बाद प्रतिदिन दोनों ओर से गीत उठते और वायु-मण्डल में बिखर जाते। दो दुखी आत्माएं संगीत द्वारा एक-दूसे से सहानुभूति प्रकट करतीं, दिल के दर्द गीतों की जबान से एक-दूसरे को सुनाये जाते।

एक महीना और बीत गया। कम्पनी एक नयी फिल्म तैयार कर रही थी और इन दिनों रामदयाल को रात में भी वहीं काम करना पड़ता था। कई रातें वह कम्पनी के स्टूडियो में ही बिता देता। इतने दिनों में वह केवल एक बार घर आया था। उर्मिला का दिल धड़क उठा था। पहली धड़कन और इस धड़कन में कितना अंतर था। पहले वह इस डर से कांप उठती थी कि रामदयाल कहीं उससे रूष्ट न हो जाये, अब वह इस भय से मरी जाती थी कि कहीं उस के दिल की बात न जान ले, कहीं वह रात भर रह कर उनके प्रेम-संगीत में बाधा न डाल दे।

अक्तूबर का अन्तिम सप्ताह था। रामदयाल घर आया। उर्मिला उसके मुख की ओर देख भी न सकी, उसके सामने भी न हो सकी। रामदयाल ने उसे बुलाया भी नहीं। वह दासी से केवल इतना कह कर चला गया,

"मैं अभी और एक महीने तक घर न आ सकूंगा। चित्रपट के कुछ दृश्य खराब हो गये हैं, उन्हें फिर दुबारा लिया जायेगा।'

जब वह चला गया तो उर्मिला ने सुख की एक सांस ली, उसे के हृदय से एक बोझ-सा उतर गया। वह कोई ऐसा हमदर्द चाहती थी, जिस के सामने वह अपना प्रेमभरा दिल खोल कर रख दे। रामदयाल वह नहीं था, उस तक उसकी पहुँच न थी। पानी ऊंचाई की ओर नहीं जाता, निचाई की ओर ही बहता है। रामदयाल ऊंची जगह खड़ा था और गाने वाला नीची जगह। उर्मिला का हृदय अनायास उसकी ओर बह चला।

उस दिन उर्मिला ने एक मीठा गीत गाया, जिसमें उदासीनता के स्थान पर उल्लास हिलोरें ले रहा था। अब वह कमरे में बैठ कर गाने के बदले बाहर बरामदें में बैठ कर गाया करती थी। दोनों की तानें एक-दूसे की तानों में मिल कर रह जाती। उनके हृदय कब के मिल चुके थे।

सन्ध्या का समय था। उर्मिला वाटिका में घूम रही थी। उसकी आँखें रह-रह कर सामने वाले भवन की ओर उठ जाती थीं। उस समय वह चाहती थी, कहीं वह युवक उसकी वाटिका में आ जाय और वह उस के सामने दिल के समस्त उद्गार खोल कर रख दे।

वह अकेला ही था, यह उसे ज्ञात हो चुका था, किन्तु कभी उसने दिन के समय उसे वहाँ नहीं देखा था। अंधेरा बढ़ चला था और डूबते हुए सूरज की लाली धीरे-धीरे उसमें विलीन हो रही थी ठण्डी बयार चल रही थी; प्र्रकृति झूम रही थी और उर्मिला के दिल को कुछ हुआ जाता था, कुछ गुदगुदी-सी उठ रही थी। वह एक बेंच पर बैठ गयी और गुनगुनाने लगी --

धीरे-धीरे यह गुनगुनाहट गीत बन गयी और वह पूरी आवाज से गाने लगी। अपने गीत की धून में मस्त वह गाती गयी। वाटिका की फसील के दूसरी ओर से किसी ने धीरे से कन्धे

को छुआ। उसके स्वर में कम्पन पैदा हो गया और वह सिहर उठी।

"आप तो खूब गाती है!"

बैठे-बैठे उर्मिला ने देखा वह एक सुन्दर बलिष्ठ युवक था। छोटी-छोटी मूँछें ऊपर को उठी हुई थीं। बाल लम्बे थे और बंगाली फैशन से कटे हुए थे। गले में सिल्क का एक कुर्ता था और कमर में धोती।

उर्मिला ने कनखियों से युवक को देखा। दिल ने कहा, भाग चल, पर पांव वहीं जम गये। पंछी जाल के पास था, दाना सामने था, अब फंसा कि अब फंसा।

"आप के गले में जादू हैं!"

उर्मिला ने युवक की ओर देखा और मुस्कुरायी। वह भी मुस्करा दिया। बोली,

"यह तो आपकी कृपा है, नहीं मैं तो आपके चरणों में बैठ कर मु त तक सीख सकती हूँ!"

वह हंसा।

"आप अकेले रहते हैं?"

"हाँ"

"और आपकी पत्नी?"

वह एक फीकी हँसी हँसा

"मेरी पत्नी, मेरी पत्नी कहाँ हैं? इस संसार में मैं सर्वथा एकाकी हूँ, मुहब्बत से ठुकराया हुआ, यहाँ आ गया हूँ, कोई मुझे पूछने वाला नहीं, कोई मुझसे बात करने वाला नहीं।"

युवक के स्वर में कम्पन था। उर्मिला ने देखा, उसका मुख पीला पड़ गया है और अवसाद तथा निराशा की एक हल्की-सी रेखा वहाँ साफ दिखायी देती है। उसके हृदय में सहानुभूति का समुद्र उमड़ पड़ा और उसकी आँखें डबडबा आयीं।

वह दीवार फाँद कर बेंच पर आ बैठा। उर्मिला अभी तक बैठी ही थी, उठी न थी। वह तनिक खिसक गयी, किन्तु उठने का साहस अब उसमें नहीं था।

युवक ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उर्मिला के शरीर में सनसनी दौड़ गयी। उसने हाथ छुड़ाना चाहा। युवक की आँखें सजल हो गयीं। उसका हाथ वहीं-का-वहीं रह गया।

वह फिर बोला - "मेरा विचार था, मैं यहाँ आ कर, एकान्त में गा कर अपना दिल बहला लिया करूंगा। मेरे पास धन और वैभव का अभाव नहीं, परन्तु उससे मुझे चैन नहीं मिलता, हृदय को शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए मैं सितार बजाता था! उसकी मनमोहक झंकार मेरे चंचल मन को एकाग्र्र कर देती थी, उसमें मुझे अपार शान्ति मिलती थी, परन्तु अब तो सितार भी बेबस हो गया है, वह भी मुझे शान्त नहीं कर सकता, मेरी शान्ति का आधार अब मेरे सितार बजाने पर नहीं रहा।"

उर्मिला सब कुछ समझ रही थी। उसने फिर हाथ छुड़ाने का प्रयास किया। युवक ने उसे नहीं छोड़ा और विद्युत वेग से उसे अपने प्यासे होठों से लगा लिया। उर्मिला के समस्त शरीर में आग-सी दौड़ गयी। उसने हाथ छुड़ा लिया और भाग गयी।

"फिर कब दर्शन होंगे?"

उर्मिला ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपने कमरे में आ गयी और पलंग पर लेट कर रोने लगी। पक्षी जाल में फंस चुका था और अब मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था।

कितनी देर तक वह लेटे-लेटे रोती रही। उसे रह-रहकर अपने पति की निष्ठुरता का ध्यान आता था। आत्मग्लानि से उस का हृदय जला जा रहा था। वह इस मार्ग को छोड़ देना चाहती थी। पश्चाताप को आग उसे जलाये डालती थी। वह चाहती थी, उसका पति आ जाये, उसके पास बैठे, उससे प्रेम करे और वह उस के चरणों में बैठ कर इतना रोये, इतना रोये कि उसका पाषाण-हृदय पानी पानी हो जाये।

उठ कर वह रामदयाल के पुस्तकालय में गयी। एक छोटी-सी मेज़ पर एक कोने में उसके पति का एक फोटो चौखटे में जड़ा रखा था। उस ने

रामदयाल अब घर में बहुत कम आता था। उर्मिला को सेवा के लिए दो दासियों में एक और की वृद्धि हो गयी थी। वह उनसे तंग आ गयी थी। वह सेवा की भूखी न थी, मुहब्बत की भूखी थी और मुहब्बत के फूल से उसकी जीवन-वाटिका सर्वथा शून्य थी। बरसात के बादल आकाश पर घिरे हुए थे। ठण्डी हवा साकी की चाल चल रही थी। बाहर किसी जगह पपीहा रह-रह कूक उठता था। वायु का एक झोंका अन्दर आया। उर्मिला के हृदय में उल्लास के बदले अवसाद की एक लहर दौड़ गयी। हृदय की गहराइयों से एक लम्बी सांस निकल गयी। उसने सितार उठाया और विरह का एक गीत गाने लगी। उसकी आवाज़ में दर्द था, गम था और जलन थी।

उसे उठाया, कई बार चूमा और उसकी आँखों से आँसू बह निकले।

रामदयाल के पैरों की चाप से उसके विचारों का क्रम टूट गया। वह उठी और सच्चे हृदय से उस का स्वागत करने को तैयार हो गयी। उस समय उसका मन साफ था। विशुद्ध-प्रेम का एक सागर वहाँ उमड़ा आ रहा था, जिसके पानी को पश्चाताप की आग ने स्वच्छ और निर्मल कर दिया था।

वह रसोई-घर से पानी ले आयी और रामदयाल के सामने जा खड़ी हुई। उसकी आँखें सजल थीं और मन आशा के तार से बंधा डोल रहा था। उसने देखा, रामदयाल ने उसके हाथ से गिलास ले कर मुँह धो लिया और फिर उसे कुछ नाश्ता लाने को कहा और जब वह मिठाई ले आयी तो रामदयाल ने तश्तरी लेने

के बदले उसे अपनी भुजाओं में ले कर उसके मुँह में मिठाई का एक टुकड़ा रख दिया। निमिष भर के लिए उसके मुख पर स्वर्गीय-आनन्द की ज्योति चमक उठी।

उसने सिर उठाया, देखा -- रामदयाल उसी तरह बैठा है। और वह उसी तरह गिलास लिये खड़ी है। आशा का तार टूट गया, मादक कल्पना हवा हो गयी। सत्य सामने था -- कितना कटु, कितना भयानक?

रामदयाल ने इशारे से उसे चले जाने को कहा। वह चुपचाप पुतली की भांति चली आयी मानो वह सजीव नारी न हो कर अपने आविष्कारक के संकेत पर चलने वाली एक निर्जीव मूर्ति हो। अपने कमरे में आ कर उसने पानी का गिलास अंगीठी पर रख दिया और धरती पर लोट कर रोने लगी।

धरती में, मूक और ठण्डी धरती में उसे कुछ आत्मीयता का आभास हुआ, एक बहनापा-सा महसूस हुआ और वह उसके अंक में लिपट कर रोयी। खूब रोयी। ऐसे मानो एक दुखी बहन अपनी सुखी बहन के गले लिपट कर आँसू बहा रही हो।

कई दिन तक वह अपने कमरे के बाहर न निकली। रामदयाल दासी से कह गया था,

"मैं और पन्द्रह दिन घर न आ सकूंगा, इसलिए तुम सावधानी से रहना।'

उर्मिला को अपने पति की निर्दयता पर रोना आता था। वह पाप की नदी में बहे जा रही थी और उसका पति उसे बचाने को हाथ तक न हिलाता था। भ्रान्ति की विकराल लहरें लपलपाती हुई उस की ओर बढ़ी आ रही थीं और उसका पति निश्चेष्ट और निष्क्रिय एक ओर खड़ा तमाशा देख रहा था।

साथ के भवन से बराबर गीत उठते थे। उनमें उल्लास की तानें न होती थीं, दुख और वेदना का बाहुल्य रहता था। उर्मिला की संगीत-प्रिय आत्मा तड़प उठती थी, परन्तु वह अपने कमरे के बाहर न निकलती थी।

शाम का वक्त था। गाने वाला प्रलय के गीत गा रहा था। उस का एक-एक स्वर उर्मिला के हृदय में चुभा जा रहा था। वह उठी, ड्राइंग-रूम में आ गयी। उसका सितार असहाय भिखारी की भांति एक ओर पड़ा था। उस पर मिट्टी की एक हल्की-सी तह जम गयी थी। उसने उसे कपड़े से साफ किया और आवेश में आ कर चूम लिया। उसकी आँखों से आँसू छलक आये। गाने वाला गा रहा था। क्यों रूठ गये हमसे

उर्मिला ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और उस की कम्पित ऊँगलियाँ सितार के तारों पर थिरकने लगीं। बेखयाली में यही गीत उस के सितार से निकलने लगा --

क्यों रूठ गये हमसे

वह गाता हुआ अपने भवन से उतरा और फसील को फांद कर उर्मिला के पास आ बैठा। वह सितार बजाती रही और वह गाता रहा।

दोनों अपनी कला के शिखर पर जा पहुँचे। उसने शायद इससे पहले इतना अच्छा न गाया हो और इसने शायद इससे पहले इतना अच्छा सितार न बजाया हो। गीत की लय और सितार की झनकार दोनों एक हो कर मानों रूठे हुए दिलों को प्रेम का मार्ग बता रही थीं।

गीत समाप्त हो गया। उर्मिला युवक की भूजाओं में थीं। अपने विशाल वक्षस्थल से भींचते हुए युवक ने उसे चूम लिया। उर्मिला चौकी, युवक पीछे हटा। वह उठ कर भागने को हुई। युवक ने उसे बैठा लिया और अपनी लम्बी मूँछें उतार दीं और सिर के लम्बे-लम्बे बाल दूर कर दिये।

गोधूलि का समय था। सन्ध्या के क्षीण प्रकाश में उर्मिला ने देखा वह अपने पति के सामने बैठी है। वह हंस रहा था, परन्तु उर्मिला के मुख पर मौत की नीरव स्याही पुत गयी।

"देखा हमारा बहुरूप उम्मी!"

रामदयाल ने विजय की खुशी में उसे अपनी

रामदयाल ने इशारे से उसे चले जाने को कहा। वह चुपचाप पुतली की भांति चली आयी मानो वह सजीव नारी न हो कर अपने आविष्कारक के संकेत पर चलने वाली एक निर्जीव मूर्ति हो। अपने कमरे में आ कर उसने पानी का गिलास अंगीठी पर रख दिया और धरती पर लोट कर रोने लगी। धरती में, मूक और ठण्डी धरती में उसे कुछ आत्मीयता का आभास हुआ, एक बहनापा-सा महसूस हुआ और वह उसके अंक में लिपट कर रोयी। खूब रोयी। ऐसे मानो एक दुखी बहन अपनी सुखी बहन के गले लिपट कर आँसू बहा रही हो।

ओर खींचते हुए कहा। कौन जानता है कि वह 'नवयुग' में छपे लेख की परीक्षा न कर रहा था!

"अभी आयी!"

और उर्मिला ऊपर अपने कमरे में भाग गयी।

कुछ समय बीत गया। रामदयाल अपने विचारों में निमग्न रहा।

उस के विचारों का क्रम उर्मिला के कमरे से आने वाली एक चीख से टूट गया। भाग कर ऊपर पहुँचा। देखा उर्मिला के कपड़ों को आग लगी हुई है और वह शान्त भाव से जल रही है।

रामदयाल कांप उठा। उसने उसे बचाने का भरसक प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

श्मशान में उर्मिला का शव जल रहा था। और मूर्तिवत बैठा रामदयाल अपनी मूर्खता और नारी-हृदय की इस पहेली को समझने का प्रयास कर रहा था।

वसीयत

– भगवतीचरण वर्मा

> **तुम्हारा उत्तरदायित्व केवल इस वसीयत को मेरे परिवार वालों को सुनाना होगा। इस वसीयत की रजिस्ट्री हो चुकी है जो अदालत में मौजूद है। तो जनार्दन, तुम इस वसीयत पर परिवार वालों के हस्ताक्षर लेकर अदालत में तत्काल जमा कर देना। जहां तक तुम्हारा संबंध है, तुम हमेशा भावानात्मक प्राणी रहे हो। तुम्हें भौतिक दर्शन पर विश्वास नहीं रहा है। न तुमने सॉरल पढ़ा, न चार्वाक का दर्शन पढ़ा है। एकमात्र वेदांत के तुम पंडित रहे हो। मुझे तुमसे कभी-कभी ईर्ष्या होने लगती है कि कितना संतोष है तुम्हें, तुम्हारे मन में कितनी शांति है। मैं निःसंकोच कहता हूं कि तुम मेरे सबसे अधिक निकटस्थ हो। मैं तुम्हें अंतिम उपहार के रूप में अपना परम प्रिय तोता गंगाराम भेंट करता हूं, जिसे मैंने अपने प्राणों की तरह पाला है।**

जिस समय मैंने कमरे में प्रवेश किया, आचार्य चूड़ामणि मिश्र आंखें बंद किए हुए लेटे थे और उनके मुख पर एक तरह की ऐंठन थी, जो मेरे लिए नितांत परिचित-सी थी, क्योंकि क्रोध और पीड़ा के मिश्रण से वैसी ऐंठन उनके मुख पर अक्सर आ जाया करती थी। वह कमरा ऊपरी मंजिल पर था और वह अपने कमरे में अकेले थे। उनका नौकर बुधई मुझे उस कमरे में छोड़कर बाहर चला गया।

आचार्य चूड़ामणि की गणना जीवन में सफल, सपन्न और सुखी व्यक्तियों में की जानी चाहिए, ऐसी मेरी धारणा थी। दो पुत्र, लालमणि और नीलमणि। लालमणि देवरिया के स्टेट बैंक की शाखा का मैनेजर था और नीलमणि लखनऊ के सचिवालय में डिप्टी सेक्रेटरी था। तीन लड़कियां थीं, सरस्वती, सावित्री और सौदामिनी। सरस्वती के पति श्री ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक इलाहाबाद में पी.डब्ल्यू. डी. के सुपरिटेंडिंग इंजीनियर थे, सावित्री के पति श्री जयनारायण तिवारी की सुल्तानपुर में आटे की और तेल की मिलें थीं तथा सौदामिनी के पति संजीवन पांडे सेना में कर्नल थे और मेरठ छावनी में नियुक्त थे।

आचार्य चूड़ामणि का और मेरा साथ करीब चालीस वर्ष पुराना था। एक ही दिन हम दोनों की हिंदू विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में नियुक्ति हुई थी। आचार्य चूड़ामणि रीडर बने थे और मैं लेक्चरर बना था।

उनके अथक परिश्रम, अटूट निष्ठा तथा अडिग संयम का ही परिणाम था कि वे विश्व में भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ माने जाते थे। प्रकांड पांडित्य के ग्रंथों से लेकर बी.ए की पाठ्य पुस्तकों तक अनेक ग्रंथों की रचना उन्होंने की थी। न जाने कितनी कमेटियों के वह सदस्य थे। हरेक विश्वविद्यालय उन्हें अपने यहां परीक्षक बनाकर अपने को धन्य समझता था। साथ ही बड़े कट्टर किस्म के ब्राह्मण थे वे। और तो और, मेरे घर की बनी हुई चाय तक उन्होंने कभी नहीं पी। महीनों उन्हें वाराणसी से बाहर रहना होता था और तब वे सत्तू, दूध, फल तथा अपने घर में बनी हुई मटरियों या लड्डुओं से हफ्तों काम चला लेते थे।

वाराणसी के लंका मोहल्ले में उन्होंने दुमंजिला मकान खरीद लिया था, उसी में वह रहते थे। उनकी पत्नी तथा उनके पुत्रों ने उनसे कितना आग्रह किया कि वे कहीं खुली जगह में कोई कोठी बनवा लें, लेकिन उन्होंने कतई इनकार कर दिया। गर्मी में दो बार और जाड़ों मे एक बार नित्य गंगा-स्नान करके पूजा करना नियत-सा था।

जनवरी का प्रथम सप्ताह था। उस दिन जब

वह गंगा स्नान करके लौटे, उन्हें कुछ ज्वर-सा मालूम हुआ। उनकी पत्नी जसोदा देवी अपनी परंपरा के अनुसार लखनऊ में अपने छोटे पुत्र के यहां थीं, उनके नौकर बुधई के ऊपर उनकी देखभाल करने का पूरा भार था। दोपहर के समय जब उन्हें पसलियों में दर्द भी मालूम हुआ, उन्होंने वैद्यराज धन्वन्तरि शास्त्री को बुलाया। वैद्यराज ने नब्ज देखकर काढ़ा पिलाया - निदान था कि सर्दी लग गई है, ठीक हो जाएगी। दूसरे दिन जब बुखार और तेज हुआ, तब उन्होंने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने देखा कि उन्हें निमोनिया हो गया है। दोनों फेफड़े जकड़ गए हैं। उसने दवा दी। बीमारी के चौथे दिन आचार्य चूड़ामणि ने बुधई को भेजकर मुझे बुलाया था।

थोड़ी देर तक मैं उनकी चारपाई के सामने खड़ा रहा कि वे आंखें खोलें, फिर हार कर मुझे ही बोलना पड़ा, 'गुरुदेव! आपका शिष्य जनार्दन जोशी आपकी सेवा में उपस्थित है।"

मेरा इतना कहना था कि आचार्य चूड़ामणि ने अपनी आंखें खोल दीं, 'जनार्दन ! मेरा अंत समय आ गया है। तुम मेरे सबसे अधिक निकटस्थ रहे हो, तो तुम्हें बुला भेजा!'

मैंने आचार्य चूड़ामणि की बीमारी के संबंध में लालमणि से सब कुछ नीचे ही सुन लिया था, जो देवरिया से एक घंटा पहले ही आ गया था - आचार्य चूड़ामणि का तार पा कर। मेरी आंखों में भी आंसू आ गए। मैंने कहा, 'गुरुदेव! यह संसार असार है और यह शरीर नश्वर है!'

कमजोर आवाज में आचार्य ने कहा, 'हां, जनार्दन! यही पढ़ा है लेकिन अभी मेरी अवस्था ही क्या है... कुल मिलाकर पचहत्तर वर्ष! सोच रहा था, संन्यासाश्रम का भी कुछ रस लूं, लेकिन लगता है, मृत्यु सिर पर आ गई है! मृत्यु से बड़ा भय लगता है!' और जैसे वे बेहद थके हों, उन्होंने आंखें मूंद लीं।

मैंने उन्हें धीरज बंधाया, 'दिल छोटा मत कीजिए, गुरुदेव! बताइए, मेरे लिए क्या आदेश है?'

आचार्य चूड़ामणि ने फिर आंखें खोलीं, 'अरे हां, मेरे तकिए के नीचे कुछ कागज रखे हैं, उसमें मेरी वसीयत है। कल इसकी रजिस्ट्री यहीं घर पर करा चुका हूं। एक प्रति न्यायालय में है। दूसरी यह है। तो इसे निकाल लो। एकमात्र तुम मेरे सबसे अधिक निकटस्थ हो और इस दुनिया में एकमात्र तुम पर मेरा विश्वास रहा है। मैंने उन सबों को कल ही तार करवा दिया है जिन्हें मेरे क्रिया-कर्म में सम्मिलित होना है और मेरी वसीयत के अनुसार कुछ मिलना है। इस वसीयत के कार्यान्वयन के लिए मैंने तुम्हें नियुक्त किया है। तो यह वसीयत मैं तुम्हें सौंपता हूं। मेरा प्रणांत होते ही यह वसीयत लागू हो जाएगी।'

'गुरुदेव की असीम कृपा रही है मेरे ऊपर!' यह कहकर मैंने आचार्य के तकिए के नीचे से कागजों का पुलिंदा निकाला। इधर मैंने उन कागजों को उलटना आरंभ किया, उधर आचार्य चूड़ामणि की आंखें उलटने लगीं। मैंने तत्काल बुधई और लालमणि को बुला कर आचार्य को भूमि पर उतारा। इधर मैंने उनके मुख में गंगाजल डाला, उधर आचार्य के प्राण महायात्रा पर निकल पड़े।

बुधई को उनके कमरे में छोड़कर मैं लालमणि के साथ नीचे वाले बड़े हाल में आया। कागज का पुलिंदा मेरे हाथ में था। लालमणि ने पूछा, 'यह कैसे कागज हैं, जोशी जी?'

'यह तुम्हारे पिता की वसीयत है, और तुम्हारे पिता के कथनानुसार इसी समय से लागू हो जाती है। तो इसे पढ़ना आवश्यक है।'

'हां, बुधई ने बताया था कि सब-रजिस्ट्रार साहब को पिताजी ने बुलाया था।' लालमणि बोला।

एक छोटी-सी भूमिका अपने संबंध में, फिर वसीयत में कार्यान्वयन के अनुच्छेद आरंभ हो गए थे। पहला अनुच्छेद इस प्रकार था - 'मैं चूड़ामणि मिश्र आदेश देता हूं कि मेरा अंत्येष्टि-संस्कार सनातन धर्म की प्रथा से हो, और अपने अंत्येष्टि-संस्कार के लिए मैंने पचास हजार की रकम अपनी आलमारी में अलग निकाल रखी है, जो क्रिया-कर्म का व्यय काटकर मेरा अंत्येष्टि-संस्कार करने वाले को मिलेगी। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि मेरे दोनों पुत्र अधर्मी और नास्तिक हैं। वैसे मेरा अंत्येष्टि-संस्कार करने का उत्तरदायित्व मेरे ज्येष्ठ पुत्र लालमणि पर है, लेकिन मेरा आदेश है कि मेरा अंत्येष्टि-संस्कार वही कर सकता है, जो यज्ञोपवीत धारण किए हो और जिसके सिर पर शिखा हो। यदि मेरे ज्येष्ठ पुत्र में यह शर्त नहीं होती, तो नीचे लिखी नामों की तालिका के अनुसार प्राथमिकता के क्रम से यज्ञोपवीत और शिखा धारण करने वाला ही मेरा अंत्येष्टि-संस्कार कर सकेगा...' मैं पढ़ते-पढ़ते रुक गया। लालमणि की ओर देखकर मैंने पूछा, 'क्यों चिरंजीव लालमणि, तुम्हारी

मैं चूड़ामणि मिश्र आदेश देता हूं कि मेरा अंत्येष्टि-संस्कार सनातन धर्म की प्रथा से हो, और अपने अंत्येष्टि-संस्कार के लिए मैंने पचास हजार की रकम अपनी आलमारी में अलग निकाल रखी है, जो क्रिया-कर्म का व्यय काटकर मेरा अंत्येष्टि-संस्कार करने वाले को मिलेगी। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि मेरे दोनों पुत्र अधर्मी और नास्तिक हैं। वैसे मेरा अंत्येष्टि-संस्कार करने का उतरदायित्व मेरे ज्येष्ठ पुत्र लालमणि पर है, लेकिन मेरा आदेश है कि मेरा अंत्येष्टि-संस्कार वही कर सकता है, जो यज्ञोपवीत धारण किए हो और जिसके सिर पर शिखा हो। यदि मेरे ज्येष्ठ पुत्र में यह शर्त नहीं होती, तो नीचे लिखी नामों की तालिका के अनुसार प्राथमिकता के क्रम से यज्ञोपवीत और शिखा धारण करने वाला ही मेरा अंत्येष्टि-संस्कार कर सकेगा।

चोटी-बोटी है कि नहीं? और यज्ञोपवीत पहनते हो या नहीं?'

कुछ उलझन के भाव से उसने कहा, 'चुटइया रख के कहीं स्टेट बैंक की मैनेजरी होती है? और जनेऊ हर दूसरे-तीसरे दिन मैला हो जाता है, तो हमने पहनना ही छोड़ दिया।'

'तब तो पचास हजार गए हाथ से, तुम अंत्येष्टि-संस्कार के योग्य नहीं हो। तुम्हारे बाद नीलमणि का नंबर है।'

'उसके भी न चोटी है, न जनेऊ है। यह जो तीसरे नंबर पर हमारा चचेरा भाई है जगत्पति मिश्र, राज-ज्योतिषी, यह निहायत झूठा और आवारा है! ग्राहकों को फंसाने के लिए इसकी एक बलिश्त की चोटी लहराती है और झूठी कसमें खाने के लिए मोटा-सा जनेऊ पहने है।"

जगत्पति मुझसे भी एक बार पांच रुपए ऐंठ ले गया था, तो मैंने कुछ सोचकर कहा, 'लालमणि, हमारी सलाह मानो, तो तुम किसी नाई की दुकान पर तत्काल मशीन से अपने बाल छंटा लो, तो चौथाई या आधी इंच की चोटी निकल ही आएगी। और वहां से लौटते हुए एक जनेऊ भी लेते आना।'

मेरी बात सुनते ही लालमणि तीर की तरह बाहर निकला। लालमणि के जाने के बाद मैंने वसीयत का दूसरा अनुच्छेद पढ़ा - 'मैं चूड़ामणि मिश्र चाहता हूं कि मेरी मृत्यु की सूचना तार या टेलीफोन द्वारा मेरी पत्नी जसोदा देवी, मेरे पुत्र लालमणि तथा नीलमणि, मेरी पुत्रियां सरस्वती, सावित्री और सौदामिनी तथा मेरे भतीजे जगत्पति, श्रीपति और लोकपति को दे दी जाए। अन्य संगे-संबंधियों को सूचना देने की कोई आवश्यकता नहीं। इन समस्त कुटुंब वालों की प्रतीक्षा बारह घंटे से लेकर चौबीस घंटे तक की जाए, इसके बाद मणिकर्णिका घाट पर मेरे शरीर का दाह-संस्कार हो। मेरे दसवें के दिन समस्त संगे-संबंधियों की उपस्थिति में मेरी वसीयत का शेषांश पढ़ा जाए।'

अब मुझे आचार्य चूड़ामणि मिश्र की वसीयत में दिलचस्पी आने लगी थी, लेकिन आचार्य की आज्ञा मुझे शिरोधार्य करनी थी, इसलिए वसीयत को तहकर मैंने अपनी जेब के हवाले किया। आचार्य प्रवर का भौतिक शरीर अगले चौबीस घंटों में बिगड़ने न पाए, मुझे इस बात की चिंता थी। सौभाग्य से लालमणि वाराणसी आ गया था और करीब आधे घंटे बाद वह चौथाई इंच लंबी चोटी धारण किए हुए नाई की दुकान से घर वापस आ गया। इस समय उसके कंधे पर एक मोटा-सा जनेऊ भी लहरा रहा था। मैंने वसीयत का दूसरा अनुच्छेद उसे सुनाकर आदेश दिया कि वसीयत में बताए लोगों को तार या टेलीफोन से खबर कर दे, अपने चचेरे भाइयों के परिवार को बुला ले और एक सिल्ली बर्फ भी मंगवाकर आचार्य प्रवर का शरीर उस पर रखवा दे। दूसरे दिन सुबह नौ बजे आचार्य जी की शव यात्रा मणिकर्णिका घाट के लिए रवाना होगी। मैं सुबह सात-साढ़े सात बजे पहुंच जाऊंगा।

कितनी शानदार शव-यात्रा थी आचार्य चूड़ामणि की! मैं तो दंग रह गया था। वाराणसी के सभी धर्माध्यक्ष और पंडित सम्मिलित थे उसमें। शर्मा-शर्मो कुछ नेता भी आ गए थे। जगत्पति की आपत्तियों के बावजूद आचार्य की कपाल-क्रिया उनके ज्येष्ठ पुत्र लालमणि ने की अपनी चोटी और यज्ञोपवीत के बल पर।

दसवें के दिन जब घर शुद्ध हो गया, मैं आचार्य की वसीयत लेकर उनके घर पहुंचा। उनके सब परिवार वाले तथा सगे-संबंधी आ गए थे। नीचे वाले कमरे में लोग एकत्र हुए। एक ओर स्त्रियां थीं, आचार्य की पत्नी जसोदा देवी, लालमणि की पत्नी नीरजा मिश्र, नीलमणि की पत्नी मधुरिमा मिश्र, दोनों के ही बाल बाब्ड, दोनों ही अंग्रेजी-मिश्रित हिंदी में बात करने वाली। आचार्य की पुत्रियां सरस्वती और सावित्री, भारतीयता की प्रतिमूर्ति लेकर सौदामिनी अपनी भाविजों से इक्कीस निकलती हुई। दूसरी ओर पुरुष थे, आचार्य के पुत्र लालमणि और नीलमणि, आचार्य के दामाद ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक, जयनारायण तिवारी तथा संजीवन पांडे, आचार्य के भतीजे जगत्पति मिश्र, श्रीपति मिश्र और लोकपति मिश्र! बुधई सब लोगों के पान-पानी की व्यवस्था कर रहा था।

मैं उस समय तक अत्यधिक गंभीर था! आचार्य चूड़ामणि के आदेश का पालन करते हुए मैंने उनकी वसीयत का शेषांश अपने घर पर नहीं पढ़ा था, यद्यपि उसे पढ़ने की इच्छा बहुत हुई थी।

मैंने वसीयत पढ़ना आरंभ किया। दो अनुच्छेदों में लोगों को कोई दिलचस्पी नहीं थी, वह तो सब हो चुका था। अब मैं तीसरे अनुच्छेद पर

आया, जो इस प्रकार था - 'मैं चूड़ामणि मिश्र आदेश देता हूं कि मेरा दाह-संस्कार करने वाले व्यक्ति की पत्नी सूतक हट जाने के बाद छह महीने तक नित्यप्रति सुबह स्नान करके ग्यारह ब्राह्मणों की रसोई अपने हाथ से बनाकर उन्हें भोजन कराएगी।...'

उसी समय लालमणि की पत्नी नीरजा मिश्र ने तमककर कहा, 'जाड़े में सुबह स्नान करके ग्यारह ब्राह्मणों की रसोई बनावे मेरी बला! बूढ़े की सनक पर मैं अपनी जान नहीं दे सकती!'

मैंने नीरजा मिश्र की बात अनसुनी करते हुए तीसरे अनुच्छेद का शेषांश पढा - 'यदि वह स्त्री इससे इंकार करती है, तो क्रमानुसार यह काम मैं दूसरी वधू, और इसके बाद अपनी तीन लड़कियों के हाथ में सौंपता हूं। इसके लिए उस स्त्री के लिए पचीस हजार रुपए की रकम निश्चित करता हूं।'

एकाएक मुझे मधुरिमा मिश्र की भारी और मोटी आवाज सुनाई दी, 'पिताजी का आदेश वेदवाक्य है मेरे लिए! जीजी नहीं करती हैं तो न करें, मैं उनकी इच्छा की पूर्ति करूंगी।'

नीरजा एकाएक तड़प उठी, 'बड़ी इच्छा की पूर्ति करने वाली होती हो! जिंदगी में कभी रसोई बनाई है या अब बनाओगी। लखनऊ में बैरों से खाना बनवाकर खाती हो! मैं तो अक्सर अपने घर में रसोई खुद ही बना लिया करती हूं। जहां छह-सात आदमियों की रसोई बनाती हूं, वहां ग्यारह आदमियों की रसोई बना लिया करूँगी, कुल छह महीने की तो बात है!' और नीरजा ने मुझसे पूछा, 'यह तो नहीं लिखा है कि गरम पानी से स्नान न किया जाए?'

मुझे कहना पड़ा, 'यह शर्त लगाना वह भूल गए।'

नीरजा ने ताली बजाते हुए कहा, 'तो फिर मुझे यह स्वीकार है! अब आगे पढ़िए।'

मधुरिमा मिश्र अपनी जेठानी को कोई कड़ा उत्तर देना चाहती थी कि नीलमणि बोल उठा, 'ठीक है, यह अधिकार भाभी जी का है। वैसे भाभी जी का मधुरिमा पर आक्षेप अनुचित है। मधुरिमा ने पचास-पचास आदमियों का भोजन अकेले अपने हाथ से बनाया है। भाभी जी को अपने शब्द वापस लेने चाहिए।'

'मैं अपने शब्द किसी हालत में वापस नहीं ले सकती!' नीरजा ने चीखकर कहा।

लेकिन वाह रे लालमणि! उसने उठकर कहा, 'मैं नीरजा के शब्द वापस लेता हूं। अब आप आगे पढ़िए।'

बात और आगे न बढ़े, मैंने वसीयत पढ़ना आरंभ किया - अनुच्छेद चार इस प्रकार है - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपनी पत्नी जसोदा देवी से जीवन भर परेशान रहा। अत्यंत आलसी, चटोरी और लापरवाह स्त्री है यह। मैंने तो दाल-भात और सत्तू खाकर जीवन बिता दिया, लेकिन यह हरामजादी मुझसे छिपाकर प्राय: नित्य ही रबड़ी, मलाई और मिठाई खाती है।...'

तभी जसोदा देवी ने चिल्लाकर कहा, 'हाय राम! यह सब लिखा है इस बुढ़वे ने! ऐसे खबोस आदमी के पल्ले मैं पड़ गई, इसे नरक में जगह न मिलेगी! घरवालों को सताकर जमाजथा इकट्ठी करता रहा... नाश हो इसका!'

इसी समय लालमणि और नीलमणि ने एक साथ अपनी माता को डांटा, 'अम्मा! पिताजी को गाली मत दो! हां जोशी जी, आप आगे पढिए।'

मैंने चौथे अनुच्छेद का शेषांश पढ़ा - 'मेरी मृत्यु के बाद इस रांड को मेरे पुत्रों पर निर्भर रहना पड़ेगा, जो अपनी जोरुओं के गुलाम हैं। ये मेरी पुत्रवधुएं इसे भूखों मार देंगी, और इसकी बिगड़ी हुई आदतों के कारण इसे भयानक कष्ट होगा। इसलिए मैं जसोदा के नाम दो लाख रुपया छोड़ता हूं, जिसके ब्याज पर यह मजे में जिंदा रह सकती है।'

मैंने चौथा अनुच्छेद समाप्त ही किया था कि स्त्रियों के कक्ष में एक हंगामा-सा खड़ा हो गया। जसोदा देवी 'हाय लालमन के पिता!' कहकर धड़ाम से जमीन पर लेट गईं और अन्य स्त्रियों ने उन्हें घेर लिया। दस सेकेंड बाद ही उन्होंने रोना प्रारंभ कर दिया, 'तुम तो स्वर्ग चले गए, लालमन के पिता हमें इस नरक में छोड़ गए। हमें क्षमा करो! जो हमारे अनजाने में हमसे अपराध हो गया है! हाय लालमन के पिता! और उन्होंने अपनी छाती पीटना आरंभ कर दिया।

मैंने समस्त साहस बटोरकर कड़े स्वर में कहा, 'यह सब कारन बाद में कीजिएगा, अभी तो वसीयत पढ़ी जा रही है!' और जसोदा देवी की पुत्रियों ने उन्हें जबरदस्ती चुप कराया।

मैंने अब पांचवां अनुच्छेद पढ़ना आरंभ किया - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपनी पुत्री सरस्वती के पति ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक से अत्यधिक खिन्न हूं। एक हफ्ता पहले मैंने यह खबर पढ़ी थी कि ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक के विरुद्ध पांच लाख रुपए गबन की इन्क्वायरी की मांग उठाई गई हैं एसेंबली में। इसके अर्थ यह हैं कि यह ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक बेईमान और रिश्वतखोर है।...'

मैंने जब सातवां अनुच्छेद पढ़ा - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपनी छोटी लड़की सौदामिनी का मुंह नहीं देखना चाहता। यह मेरे नाम को कलंकित कर रही है। बाल कटे हुए, अंग्रेजी में बात करती है। मुझे बताया गया है कि यह कभी-कभी सिगरेट और शराब भी पी लेती है, यद्यपि मुझे इस पर विश्वास नहीं होता...' मुझे पढ़ते-पढ़ते रुक जाना पड़ा, सौदामिनी चीख रही थी, 'यह सब छोटे जीजाजी की हरकत है! वह हमेशा पिताजी के कान भरते रहे, तभी पिताजी ने मुझे कभी अपने यहां नहीं बुलाया।'

ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक की ओर सब लोगों की निगाहें उठ गईं और सहसा ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक उठ खड़े हुए, 'यह बूढ़ा हमेशा का बदमिजाज और बदजबान रहा है, मरने के पहले पागल भी हो गया था!' और उन्होंने अपनी पत्नी सरस्वती को आज्ञा दी, 'चलो, इस घर में मेरा दम घुट रहा है... एकदम चलो!'

सरस्वती भी उठ खड़ी हुई, लेकिन सावित्री और सौदामिनी ने सरस्वती का हाथ पकड़ लिया, 'पहले पूरी बात तो सुन लो।'

दूसरी ओर पुरुषों ने ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक का हाथ पकड़कर बैठाया। नीलमणि ने मुझसे कहा, 'हां जोशी जी, पांचवां अनुच्छेद पूरा कीजिए।'

मैंने पांचवां अनुच्छेद पूरा किया - 'और अगर ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक पर इन्क्वायरी बैठ गई, तो बहुत संभव है, इसकी नौकरी जाती रहे, इसे शायद सजा भी हो जाए। इस सब में इसके पाप की कमाई भी नष्ट हो सकती है। इसलिए मैं सरस्वती के लिए एक लाख रुपया छोड़ता हूं।'

कमरे में सन्नाटा छा गया। ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक चुप बैठे छत की ओर देख रहे थे और सरस्वती सुबक रही थी। जसोदा देवी ने सरस्वती के सिर पर हाथ रखते हुए कहा, 'कोई बात नहीं, इनकी तो आदत ही ऐसी थी।

मैंने अब वसीयत का छठा अनुच्छेद पढ़ा - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपनी दूसरी लड़की सावित्री से हमेशा संतुष्ट रहा हूं। अत्यंत सुशील और विनम्र रही है यह। भगवान की भी इस पर कृपा है। इसके पति जयनारायण तिवारी का ऊंचा कारबार है, आटे की मिल, तेल की मिल, और अब वह शक्कर की मिल भी खोल रहा है। सावित्री और जयनारायण को मेरे शत-शत आशीर्वाद।' और मैं चुप हो गया।

तभी मुझे जयनारायण तिवारी की आवाज सुनाई दी, 'वसीयत के अनुसार हमें कुछ मिलेगा भी या नहीं?'

'यह तो उन्होंने नहीं लिखा है। छठा अनुच्छेद समाप्त हो गया, केवल आशीर्वाद ही दिया है उन्होंने।'

और अब सावित्री ने रो-रोकर कहना आरंभ किया, 'पिताजी हमेशा हम लोगों से जलते रहे, हमारी संपन्नता का बखान करते रहे। उन्हें क्या पता कि इस साल हमें दो लाख रुपए का घाटा हुआ है।'

जयनारायण तिवारी ने सावित्री को डांटा, 'क्यों घर का कच्चा चिट्ठा खोल रही हो? घाटा हुआ है तो हमें, कोई हरामजादा इस घाटे को पूरा कर देगा क्या?'

कर्नल संजीवन पांडे ने कड़े स्वर में कहा, 'तिवारी जी, गाली-वाली देना हो, तो अपने मजदूरों और मातहतों को देना! यहां दोगे, तो मुंह तोड़ दिया जाएगा!'

मैंने सब लोगों से हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा, 'पहले वसीयत समाप्त हो जाए, तब आपस में लड़िए-झगड़िए।'

काफी चांव-चांव के बाद सब लोग शांत हुए। मैंने जब सातवां अनुच्छेद पढ़ा - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपनी छोटी लड़की सौदामिनी का मुंह नहीं देखना चाहता। यह मेरे नाम को कलंकित कर रही है। बाल कटे हुए, अंग्रेजी में बात करती है। मुझे बताया गया है कि यह कभी-कभी सिगरेट और शराब भी पी लेती है, यद्यपि मुझे इस पर विश्वास नहीं होता...'

मुझे पढ़ते-पढ़ते रुक जाना पड़ा, सौदामिनी चीख रही थी, 'यह सब छोटे जीजाजी की हरकत है! वह हमेशा पिताजी के कान भरते रहे, तभी पिताजी ने मुझे कभी अपने यहां नहीं बुलाया।'

उसी समय मुझे सावित्री की चीख सुनाई दी, 'अरे उन्हें बचाओ! वह संजीवन उनकी जान ले लेगा!'

अब मैंने पुरुषों की गैलरी की ओर देखा, और मेरी आंखों को विश्वास नहीं हुआ। कर्नल संजीवन पांडे जयनारायण तिवारी का गला पकड़े थे और कह रहे थे, 'क्यों बे, सूअर के बच्चे! हमारे यहां आकर स्कॉच व्हिस्की मांगता है और पीछे चुगली करता है!' और जयनारायण तिवारी 'गों-गों' की आवाज कर

"मैं चूड़ामणि मिश्र अपने भतीजे लोकपति मिश्र का आदर करता हूं। विनम्र, शिष्ट, अध्यवसायी और पंडित। अपने अथक परिश्रम और अपनी योग्यता के बल पर ही वह संस्कृत महाविद्यालय का प्राचार्य बन सका है। मैं अपनी समस्त पुस्तकें उसे देता हूं, जिसकी जिल्दें बनवाकर वह मेरे मकान के नीचे वाले खंड में एक अच्छा-सा पुस्तकालय स्थापित कर दे। इसी मकान में वह आकर रहे भी और जसोदा भी देखभाल करे। जसोदा की मृत्यु के बाद इस मकान के नीचे के खंड का स्वामी लोकपति मिश्र होगा। अगर जसोदा लोकपति के साथ न रहना चाहे, तो वह अपने पुत्रों-पुत्रियों के साथ या कहीं दूसरी जगह रह सकती है। ऐसी हालत में जसोदा के जीवनकाल में ही इस नीचे के खंड पर लोकपति का स्वामित्व हो जाएगा।"

रहे थे। ज्ञानेन्द्रनाथ पाठक और नीलमणि ने बड़ी मुश्किल से जयनारायण तिवारी को संजीवन पांडे के पंजे से छुड़ाया।

मैंने कहा, 'आप लोगों को इस पवित्र अवसर पर इस तरह लड़ना-झगड़ना शोभा नहीं देता! इससे आचार्य की दिवंगत आत्मा को क्लेश होगा। पहले मैं पूरी वसीयत पढ़ लूँ, तब आप आपस में एक-दूसरे से निबटिएगा। अभी सातवां अनुच्छेद समाप्त नहीं हुआ है।'

सब लोग शांत हो गए। मैंने पढ़ना आरंभ किया - 'लेकिन इस समय मुझे लगता है, मुझसे सौदामिनी के प्रति अन्याय हो गया है। एक पतिव्रता स्त्री को जो करना चाहिए, वही सब

वह कर रही है। और मैं संजीवन पांडे को भी दोष नहीं दे सकता। फौज में बड़ा अफसर है। चीन की फौज से लड़ा, पाकिस्तान की फौज से लड़ा और सौभाग्य से जीवित बचा हुआ है। लेकिन मृत्यु की छाया उसके सिर पर मंडराती ही रहती है। और इसलिए वह खुलकर मांस-मदिरा का सेवन करता है। खुले हाथ खर्च करता है। पास में पैसा नहीं। अगर वह मर जाएगा, तो सौदामिनी और उसके बच्चों को भीख मांगने की नौबत आएगी। इसलिए मैं डेढ़ लाख रुपयों की व्यवस्था करता हूं, जिसका ब्याज आठ प्रतिशत की दर से बारह हजार रुपए प्रतिवर्ष, यानी एक हजार रुपया महीना होगा।'

एकाएक सौदामिनी किलक उठी, 'धन्य हो पिताजी! तुम निश्चय स्वर्ग में जाओगे!'

और मैंने देखा कि संजीवन पांडे ने उठकर जयनारायण तिवारी को गले से लगाया, 'भाई साहब, मुझे क्षमा कीजिएगा! आपकी ही वजह से उस खबीस बूढ़े से डेढ़ लाख रुपए की रकम हाथ लगी!'

मैंने संजीवन पांडे को डांटा - 'तुमको शर्म नहीं आती, जो अपने पिता-तुल्य पूज्य आचार्य को खबीस बूढ़ा कह रहे हो! अच्छा, मैं आठवां अनुच्छेद पढ़ता हूं - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपने भतीजे जगत्पति मिश्र राज-ज्योतिषी के कष्टों से भली-भांति परिचित हूं। इसके पास कोई बैठक नहीं है, इसलिए ग्राहक खुद इसके यहां नहीं फंसता, इसे घूम-फिरकर ग्राहकों को फंसाना पड़ता है। बावजूद अपने झूठ और आडंबर के यह अपना पेशा नहीं चला पा रहा है। अपने संकटमोचन के मकान का ऊपरी खंड मैं जगत्पति मिश्र को देता हूं, एक हजार रुपयों की रकम के साथ, जिससे यह अपना एक साइनबोर्ड बनवा ले, एक टेलीफोन लगवा ले और अपने पेशे योग्य पीतांम्बर आदि वस्त्र खरीद ले।'

जगत्पति मिश्र ने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, 'हमारे लिए सिर्फ इतना ही?'

उत्तर नीलमणि दे दिया, 'पहले हैसियत बना लो, फिर लखनऊ आना। वहां ज्योतिषियों की बड़ी पूछ है, हम तुम्हें काफी रकम पैदा करा देंगे।'

मुझे डांटना पड़ा, 'यह सब बातें बाद में, अभी तो वसीयत का क्रम चल रहा है। हां तो नवां अनुच्छेद इस प्रकार है -'मैं चूड़ामणि मिश्र अपने भतीजे श्रीपति मिश्र से अत्यंत संतुष्ट हूं। हाई स्कूल पास होने के बाद ही वह राजनीति में आ गया, और राजनीतिक नेताओं की चमचागीरी करके वह खाने-पीने भर के लिए झटक लेता है। लेकिन उसे केवल इतने से संतोष नहीं कर लेना चाहिए, उसे स्वयं एम.एल.ए. या मिनिस्टर बनना चाहिए। मैं जानता हूं कि चुनाव लड़ने के लिए पूंजी की आवश्यकता है, क्योंकि एक चुनाव में पचास-साठ हजार रुपयों का खर्च है। मैं श्रीपति मिश्र के लिए पचास हजार रुपयों की व्यवस्था करता हूं, ताकि वह अगला चुनाव लड़ सके। अपनी मक्कारी, छल-कपट और गुंडागर्दी के बल पर श्रीपति अपने प्रदेश का ही नहीं, भारतवर्ष का बहुत बड़ा नेता बन सकेगा।'

हर्षातिरेक से उमड़ते हुए अपने आंसुओं को पोंछते हुए श्रीपति ने कहा, 'चाचाजी, आपने मेरे चरित्र पर जो लांछन लगाया है, वह सरासर अपने भ्रम के कारण! लेकिन मैं आपके आदेशों का पालन करूंगा।'

मैंने अब दसवां अनुच्छेद पढ़ा - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपने भतीजे लोकपति मिश्र का आदर करता हूं। विन्रम, शिष्ट, अध्यवसायी और पंडित। अपने अथक परिश्रम और अपनी योग्यता के बल पर ही वह संस्कृत महाविद्यालय का प्राचार्य बन सका है। मैं अपनी समस्त पुस्तकें उसे देता हूं, जिसकी जिल्दें बनवाकर वह मेरे मकान के नीचे वाले खंड में एक अच्छा-सा पुस्तकालय स्थापित कर दे। इसी मकान में वह आकर रहे भी और

मैं चूड़ामणि मिश्र अपने सेवक बुधई से बहुत संतुष्ट हूं, जो गत बीस वर्षों से मेरे अंत समय तक बड़ी लगन और बड़ी भक्ति के साथ मेरा सेवा करता रहा। भोजन यह मेरे यहां करता था, वस्त्र यह मेरे पहनता था, अपनी तनख्वाह यह पूरी-की-पूरी अपने घर भेज देता था। तो मैं आदेश देता हूं कि मेरे समस्त वस्त्र, सूती, रेशमी और ऊनी बुधई को दिए जाएं। भंडारघर में जितना भी अनाज, घी, चीनी है, वह सब भी बुधई को दे दिया जाए और मेरी ओर से सौ रुपए देकर इसे भी विदा कर दिया जाय।

जसोदा भी देखभाल करे। जसोदा की मृत्यु के बाद इस मकान के नीचे के खंड का स्वामी लोकपति मिश्र होगा। अगर जसोदा लोकपति के साथ न रहना चाहे, तो वह अपने पुत्रों-पुत्रियों के साथ या कहीं दूसरी जगह रह सकती है। ऐसी हालत में जसोदा के जीवनकाल में ही इस नीचे के खंड पर लोकपति का स्वामित्व हो जाएगा। पुस्तकों की जिल्दें बंधवाने के लिए तथा रैक खरीदने के लिए मैं दो हजार रुपयों की व्यवस्था करता हूं।'

लोकपति ने भूमि पर अपना मस्तक नवाकर कहा, 'चाचाजी का आदेश शिरोधार्य है। लेकिन जिल्द-बंधाई और रैकों के खरीदने के लिए यह रकम बहुत कम है।'

तभी मुझे लालमणि की आवाज सुनाई दी, 'इसमें हजार-दो हजार और जो लगे, मुझसे ले लेना।'

ग्यारहा अनुच्छेद इस प्रकार था - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपने सेवक बुधई से बहुत संतुष्ट हूं, जो गत बीस वर्षों से मेरे अंत समय तक बड़ी

लगन और बड़ी भक्ति के साथ मेरा सेवा करता रहा। भोजन यह मेरे यहां करता था, वस्त्र यह मेरे पहनता था, अपनी तनख्वाह यह पूरी-की-पूरी अपने घर भेज देता था। तो मैं आदेश देता हूं कि मेरे समस्त वस्त्र, सूती, रेशमी और ऊनी बुधई को दिए जाएं। भंडारघर में जितना भी अनाज, घी, चीनी है, वह सब भी बुधई को दे दिया जाए और मेरी ओर से सौ रुपए देकर इसे भी विदा कर दिया जाय। यदि मेरे कुटुंब का कोई व्यक्ति बुधई को अपने यहां नौकर रखना चाहे, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

जसोदा देवी ने कड़ककर बुधई से पूछा, 'कितना सामान है भंडार में?'

बुधई ने हाथ जोड़कर कहा, 'एक बोरा चावल, एक बोरा गेहूं, पांच किलो चीनी, एक मन गुड़, एक टीन घी और दो कनस्तर सत्तू है, दालें भी थोड़ी-थोड़ी हैं।

जसोदा देवी ने कहा, 'तेरही के दिन जो भोज होगा, यह अनाज उसमें काम आएगा। बुधई को कैसे दिया जा सकता है?'

मुझे बोलना पड़ा, 'भोज का प्रबंध लालमणि को करना पड़ेगा, जिन्हें इस सबके लिए पचास हजार की रकम मिली है। लालमणि अगर चाहें, तो यह अनाज बुधई से बाजार के भाव पर खरीद लें।'

लालमणि ने कहा, 'यह सब बाद में देखा जाएगा। अब आप वसीयत का शेषांश पढ़िए।'

बारहवें अनुच्छेद की प्रतीक्षा में सभी लोग थे, जो इस प्रकार था - 'मैं चूड़ामणि मिश्र अपने मकान के रूप में अचल संपत्ति तथा बैंक में जमा ग्यारह लाख रुपयों की चल संपत्ति का स्वामी हूं। यह ग्यारह लाख की रकम पिछले अप्रैल में मेरे नाम थी, ब्याज लगाकर यह रकम अब और बढ़ गई होगी। संभवत: इस राशि पर मृत्यु कर भी देना होगा। तो मृत्यु कर देने के बाद जो रुपया बचे, उसमें से इस वसीयत में निर्धारित राशियां बांट दी जाएं, और जो बचे, वह बराबर-बराबर भागों में लालमणि और नीलमणि में वितरित हो जाए।'

मैंने कुछ रुककर कहा, 'वसीयत समाप्त हो गई है, केवल एक फुटनोट है मेरे लिए अलग से। अगर आप कहें, तो उसे भी पढ़ दूं।'

एक स्वर से सब लोगों ने कहा, 'हां-हां, उसे भी पढ़ दीजिए।'

फुटनोट इस प्रकार था - 'मेरे परम शिष्य जनार्दन जोशी! तुम्हारा उत्तरदायित्व केवल इस वसीयत को मेरे परिवार वालों को सुनाना होगा। इस वसीयत की रजिस्ट्री हो चुकी है जो अदालत में मौजूद है। तो जनार्दन, तुम इस वसीयत पर परिवार वालों के हस्ताक्षर लेकर अदालत में तत्काल जमा कर देना। जहां तक तुम्हारा संबंध है, तुम हमेशा भावानात्मक प्राणी रहे हो। तुम्हें भौतिक दर्शन पर विश्वास नहीं रहा है। न तुमने सॉरल पढ़ा, न चार्वाक का दर्शन पढ़ा है। एकमात्र वेदांत के तुम पंडित रहे हो। मुझे तुमसे कभी-कभी ईर्ष्या होने लगती है कि कितना संतोष है तुम्हें, तुम्हारे मन में कितनी शांति है। मैं निःसंकोच कहता हूं कि तुम मेरे सबसे अधिक निकटस्थ हो। मैं तुम्हें अंतिम उपहार के रूप में अपना परम प्रिय तोता गंगाराम भेंट करता हूं, जिसे मैंने अपने प्राणों की तरह पाला है। जब तुम अदालत से इस वसीयत को जमा करके लौटना, तब बुधई से गंगाराम को ले लेना।'

मैंने घड़ी देखी, दस बज चुके थे, मैं उठ खड़ा हुआ, 'अदालत खुल गई होगी, मैं पूज्य गुरुदेव की आज्ञानुसार यह वसीयत वहां जमा करके वापस लौटता हूं।'

अदालत में अधिक समय नहीं लगा, बारह बजे ही मैं लौट आया। बुधई ने तोते का पिंजरा मुझे थमा दिया।

लंका से अस्सीघाट अधिक दूर नहीं है, जहां मेरा मकान है। पिंजरा हाथ में लेकर मैं पैदल ही चल पड़ा। उस समय मेरे मन में परम संतोष था। आचार्य इतने संपन्न और इतनी स्थिर बुद्धि के आदमी होंगे, मैंने पहले कभी कल्पना न की थी। मैं इस पर सोचता मगन भाव में चल रहा था कि मुझे सुनाई पड़ा, 'तुम बुद्धू हो।'

मैं चौंक पड़ा। बिल्कुल साफ आवाज। और मैंने अनुभव किया कि यह आवाज तोते के पिंजरे से आई थी। इस आवाज को सुनकर मेरे विचारों ने पलटा खाया। आचार्य ने लाखों रुपए उन लोगो को बांट दिए, जिनसे वे बेहद नाराज थे, जिन्हें वे गालियां देते थे, लेकिन मेरे लिए उन्होंने एक पैसे की भी व्यवस्था न की। आज मुझे आचार्य चूड़ामणि पर कुछ झुंझलाहट होने लगी। इस झुंझलाहट के मूड में मैं तेजी से डग बढ़ाकर चलने लगा। तभी मुझे पिंजरे से सुनाई पड़ा, 'मैं पंडित हूं!'

बड़ी साफ आवाज, जैसे आचार्य चूड़ामणि स्वयं बोल रहे हों। तो आचार्य एक मूल्यवान उपहार मुझे दे गए हैं। अस्सी घाट सामने दीख रहा था कि मुझे फिर सुनाई पड़ा, 'तुम बुद्धू हो!'

आसपास के लोग मुझे और मेरे हाथ वाले पिंजरे को देख रहे थे और मुझे लगा कि आचार्य चूड़ामणि अपनी वसीयत में मुझे ठेंगा दिखाकर मेरा उपहास कर रहे हैं। मेरा अंदर वाला वेदांती न जाने कहां गायब हो गया। मैं तेजी से अपनी घर की ओर न मुड़कर गंगाजी की ओर चलने लगा, तभी पिंजरे से सुनाई पड़ा, 'मैं पंडित हूं!'

सामने गंगाजी लहरा रही थीं। मैंने आचमन करते हुए कहा, 'आचार्य, तुम पंडित थे इससे कोई इंकार नहीं कर सकता, तुम्हारी आत्मा को शांति मिले!' और मैं अपने घर की ओर चलने को उद्यत ही हुआ कि गंगाराम बोल उठा, 'तुम बुद्धू हो!'

जैसे सिर से पैर तक आग लग गई हो मेरे, मैंने पिंजरे की खिड़की खोलते हुए कहा, 'मैं बुद्धू हूं, यह मानने से मैं इंकार करता हूं। हे गंगाराम, मैं तुम्हें मुक्त करता हूं!' मेरे कहने के साथ ही गंगाराम पिंजरे से उड़ गया।

और मैं घाट पर खाली पिंजरा छोड़कर घर की ओर चल दिया।

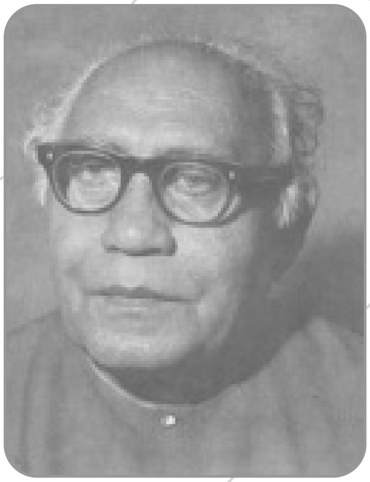

अपनी डफली

– वैद्य गुरुदत्त

हमारा दुर्भाग्य इस बात का सीधा परिणाम नहीं है, क्योंकि हमारा कोई ऐसा सहायक नहीं था, जो कि समय पर काम आए। चोर नित्य ही किसी के घर सेंध नहीं लगाते। इस पर भी पुलिस को सदा और सब स्थानों पर सचेत रखा जाता है। आग लगने की घटनाएँ नित्य और सदा नहीं होती, परंतु आग बुझानेवाले दमकल सदा तैयार रखे जाते हैं। भावी दुष्परिणामों को रोकने के लिए सदा सुरक्षात्मक उपाय व्यवहार में लाए जाते हैं। बहुत से लोगों का एक साथ एक परिवार के रूप में रहना ऐसी संभावित विपत्ति से, जैसी हम पर आन पड़ी थी, चौकस रहने का प्रयत्न है।

देश के स्वार्थी लोगों की भाँति घर में स्त्रियों की स्थिति होती है। प्रायः स्त्रियाँ ही बहुत सी घरेलू अशांति के लिए उत्तरदायी सिद्ध होती हैं।किसी बड़े जमींदारी की भाँति अपने पति की संपत्ति पर पूर्णाधिकार स्थापित करने के लिए वे युक्तियाँ प्रयुक्त करती हैं। लड़ाओ और मौज करो, इस सिद्धांत का इस निमित्त साधारणतया प्रयोग किया जाता है।

निर्मला जब प्रथम बार अपनी ससुराल आई, तो उसने भी ठीक वैसा ही किया। विवाह के बाद पहली मधुर रात्रि व्यतीत करने के उपरांत केशव नहीं चाहता था कि ऐसा कोई प्रसंग छेड़ा जाए, जिसमें परस्पर विरोध हो, परंतु निर्मला अत्यंत सावधान थी।

उसने अपने पति के बड़े भाई का बहुत बड़ा परिवार देख मन में निश्चय कर लिया कि इस महासमुद्र में बूंद बनकर वह नहीं रहेगी। वह अपने पति की वस्तुओं का निरीक्षण करने लगी। वे संख्या में बहुत कम थीं। दो - चार फटी कमीजें, दो पैंट और एक कोट। जो व्यक्ति कई वर्षों से तीन सौ रुपए मासिक वेतन पा रहा हो, उसके वस्त्रों का यह हाल? और फिर पति के शृंगार की वस्तुओं में एक शेविंग ब्रश, कप- सोप तथा एक जापानी बहुत ही पुराना सेफ्टी- रेजर।

अपने पति की ऐसी दयनीय स्थिति को देख निर्मला को यह निर्णय करने में विलंब नहीं लगा कि उसका पति अपनी सारी आय अपने भाई के परिवार पर बरबाद कर रहा है। उसने अपने पति से पूछा,"शादी से पहले, जो नेवी - ब्ल्यू सूट आप पहनते थे, वह कहाँ है ?"

"अरे, उसके बारे में तुम क्यों चिंता करती हो ? मैंने वह उस व्यक्ति को दे दिया है, जिसको उसकी आवश्यकता थी।"

"तो अब आप क्या पहनेंगे ?"

"यह नया सूट, जो तुम्हारे पिताजी ने मुझको दिया है।"

"ओ हो, और उस धन का क्या हुआ, जो आप इतने वर्षों से कमा रहे हैं ? बैंक में कितना जमा किया है ?"

"श्रीमतीजी, मैं आज तक बैंक में घुसा ही नहीं, जमा क्या करवाऊँगा? वास्तव में मुझे हिसाब-किताब रखने की आदत नहीं, किंतु तुम्हें इस सबकी चिंता क्यों हो रही है? विशेषतया उस समय जबकि हमारे पास अन्य बहुत सी आनंददायक बातें करने के लिए पड़ी हैं।" केशव ने निर्मला को जरा अपने समीप खींचते हुए कहा।

निर्मला ने केशव के खींचने का विरोध नहीं किया, परंतु साथ ही कह दिया, "यह तो ठीक है, परंतु मैं चाहती हूँ कि ये आनंद की घड़ियाँ दिनों में और वे दिन वर्षों में परिणत हों।"

"वह तो होगा ही।"

इतना कह केशव ने कसकर उसका आलिंगन कर लिया। जब उसकी पकड़ कुछ ढीली पड़ी, तो निर्मला ने अवसर देख पुनः कहा,"पर धन के बिना जीवन नहीं चल सकता।"

"अरे, छोड़ो इन छोटी - छोटी बातों को। इनसे हमें अपना मन खराब नहीं करना चाहिए।"

केशव धन-संपत्ति की इन गंभीर बातों की अपेक्षा मधुर बातें करने पर तुला था। निर्मला ने भी अब समझा कि आज के लिए इतना पर्याप्त है। अतः उसने प्रसंग आगे नहीं बढ़ाया।

थोड़े ही दिनों में उसने समझ लिया कि उसका पति बहुत ही फिजूलखर्च है। अगले महीने की पहली तिथि को उसने अपने तीन सौ रुपए वेतन का हिसाब अपनी पत्नी को बता दिया। उसने कहा, "सौ रुपए घर के खर्च के लिए, पचास रुपए तुम्हारे पॉकेट खर्च के लिए और डेढ़ सौ रुपए मेरे अपने प्रयोग के लिए।"

किंतु यह वितरण निर्मला को नहीं भाया। वह सभी मुद्दों का विस्तृत विवरण चाहती थी।

शादी हुए अभी चार मास ही हुए थे कि निर्मला का अपनी जेठानी से झगड़ा रहने लगा। एक दिन रात्रि के समय वह अपने पति से कलोल कर रही थी। पति से कोई बात मनवाने का यह उपयुक्त अवसर होता है, इसका विचार कर निर्मला ने कह दिया, "क्या आप यह चाहते हैं कि मैं दूसरों की गुलाम बनकर रहूँ? आपकी भाभी तथा उनके बच्चों की सेवा करते - करते मैं थक गई हूँ। क्या हम किसी ऐसे स्थान पर नहीं रह सकते, जिसे हम अपना घर कह सकें और जो पूर्णतया हमारा हो, यहाँ तक कि उसमें कोई झाँक भी न सके।"

केशव के पास भी छिपाने को कुछ नहीं था। उसने कहा, "भोजन, निवास, आतिथ्य आदि का खर्च सौ रुपए में चलेगा, जिसका प्रबंधन भाभी करेंगी।"

"भाभी क्यों ? मैं क्यों नहीं ?"

"हाँ, तुम्हें उनकी सहायता करनी चाहिए।"

"जैसे बड़े बाबू के अधीन छोटा बाबू रहता है ?"

"तुम इसे ऐसा भी समझ सकती हो।"

"लेकिन सौ रुपए तो इसके लिए बहुत अधिक हैं। हम दो जने इतना तो नहीं खा जाते।"

"मेरी प्यारी निर्मल, हम दो नहीं दस हैं।"

"दस! आपके कहने का अभिप्राय यह है कि आपके भाई, उनकी पत्नी और उनके सब बच्चे?"

"हाँ !"

"तो क्या उन सबकी परवरिश का दायित्व हम पर है ?"

"नहीं, हम सबका पारस्परिक दायित्व है।"

"परंतु मैं इसमें कोई कारण नहीं पाती कि हम उन पर कुछ व्यय करें ?"

"किसी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए कारण ढूँढ़ना छोटी बात है। प्रत्येक बात पर तर्क करना बुद्धिमत्ता नहीं। बच्चे को जन्म देने के बाद माँ क्यों उसको दूध पिलाती है? माँ क्यों उस बच्चे के लिए अपना जीवन-दान करे?"

"माँ अपने बच्चे को प्यार करती है और इसके लिए जो त्याग करना पड़ता है, वह चाहे कितना भी बड़ा हो, उसका विचार नहीं करती।"

"मैं अपने भाई और उनके बच्चों को प्यार करता हूँ। क्या यह पर्याप्त कारण नहीं कि मैं उनकी खुशी में कुछ योगदान करूँ ?"

निर्मला जब तर्क में हार गई, तो अपने उद्देश्य -सिद्धि के लिए उसने अपना दूसरा ढंग अपनाया।

शादी हुए अभी चार मास ही हुए थे कि निर्मला का अपनी जेठानी से झगड़ा रहने लगा। एक दिन रात्रि के समय वह अपने पति से कलोल कर रही थी। पति से कोई बात मनवाने का यह उपयुक्त अवसर होता है।

इसका विचार कर निर्मला ने कह दिया, "क्या आप यह चाहते हैं कि मैं दूसरों की गुलाम बनकर रहूँ? आपकी भाभी तथा उनके बच्चों की सेवा करते-करते मैं थक गई हूँ। क्या हम

किसी ऐसे स्थान पर नहीं रह सकते, जिसे हम अपना घर कह सकें और जो पूर्णतया हमारा हो, यहाँ तक कि उसमें कोई झाँक भी न सके।"

"तुम्हारा कहने का अभिप्राय यह है कि मैं अपने भैया को छोड़ दूँ।"केशव ने सचेत होकर पूछा।

"ठीक है कि उनको कुछ आर्थिक सहायता की आवश्यकता रहती है। मैं इसमें कोई आपत्ति नहीं करती, किंतु स्वतंत्रता तो सबका जन्म-सिद्ध अधिकार है और मुझे भी तो यह चाहिए।"

"निर्मला, तुम्हारी इस बात से मैं सहमत हूँ, परंतु अपने साथियों की सेवा करना भी प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।"

"ठीक है और यदि आप पृथक् मकान ले देते हैं, तब भी तो हम उनकी कुछ सेवा कर सकते हैं। मैं वचन देती हूँ कि आपके सभी संबंधियों के साथ मेरा व्यवहार मैत्रीपूर्ण रहेगा। देखिए, कितना आनंददायक होगा पृथक् रहना। आप मेरे लिए होंगे और मैं आपके लिए। अन्य कोई व्यक्ति बीच में दखल देनेवाला नहीं होगा।"

यह कोई तर्क नहीं था, अपितु निवेदन था। एक स्त्री की उत्कट अभिलाषा थी, जिसका विरोध केशव नहीं कर सका। अगले दिन ही उसने अपने भैया से पृथक् में कह दिया, "मैं पृथक् मकान में रहना चाहता हूँ।"

"क्यों ?"भैया का प्रश्न था।

"निर्मला ऐसा चाहती है और मैं उसकी इस छोटी सी माँग को ठुकराना नहीं चाहता। भैया, आपको चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। घर के खर्चेमें मेरा सहयोग पूर्ववत् रहेगा।"

"नहीं, यदि तुम परिवार से पृथक् हो जाओगे, तो फिर ऐसा नहीं होगा।"

"पर भैया, यह तो मैं अपने स्नेहवश देता हूँ। आप क्यों इनकार करते हैं ? आपके मुझ पर बहुत से एहसान हैं।"

बड़ा भाई दृढ़-निश्चयी था। उसने कहा, "जब तक हम संयुक्त परिवार की भाँति रहते हैं, तब तक मेरे और तुम्हारे धन में कोई अंतर नहीं था, क्योंकि हमारा हित संयुक्त था। अब पृथक्-पृथक् रहने पर सबकुछ बदल जाएगा। तुम्हारा मुझे कुछ देना न तो तुम्हारी पत्नी को भला प्रतीत होगा और न ही कुछ लेना मेरी पत्नी को।"

"किंतु भैया, इन स्त्रियों को बीच में लाने की क्या आवश्यकता है? हम इसे केवल अपने तक ही सीमित रखें।"

"नहीं, मैं तुम्हारी भाभी से छिपाकर कुछ नहीं रखता और न ही तुम्हें सुझाव दूंगा कि तुम अपनी पत्नी से कुछ छिपाकर रखो।"

परिवार विभक्त हो गया। इससे निर्मला अत्यंत प्रसन्न थी, परंतु उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही, जब केशव ने उसको यह बताया कि भैया ने उसकी सहायता लेने से इनकार कर दिया है।

केशव का भाई माधव अत्यंत निर्धन था। एक फर्म में साधारण सा क्लर्क था और वेतन स्वरूप उसे केवल डेढ़ सौ रुपए मासिक मिलते थे। घर में छह बच्चे थे तथा उनके पालन -पोषण एवं उनकी शिक्षा के लिए यह राशि अत्यंत अल्प थी। इस पर भी येन - केन प्रकारेण वह जीवन की गाड़ी चलाने लगा। उसने दृढ़ निश्चय किया और अपनी जीवन की गाड़ी को नया मोड़ दिया। अपने सबसे बड़े लड़के को, जो कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उसने कह दिया कि आगे पढ़ना है तो साथ- साथ अर्जन करे।

दूसरे लड़के ने पिछले वर्ष मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की थी तथा आगे कॉलेज में प्रवेश लेने की सोच रहा था। उसने उसकी शिक्षा-समाप्ति की घोषणा कर दी और उसको एक कारखाने में काम सीखने पर लगा दिया। छोटे तीनों बच्चों की शिक्षा उसने चालू रखी। सबसे छोटा लड़का तीन वर्ष का ही था।

समय व्यतीत होता गया। सबसे बड़ा लड़का अब दुकानदार बन गया था। उसने दलाली का काम शुरू किया था और अपनी थोड़ी सी पूँजी बचाकर एक किराने की दुकान खोल ली थी। दो वर्ष में ही उसकी दुकान चल निकली थी और वह इस समय लगभग दो सौ रुपए मासिक अपने पिता की आय में वृद्धि करने लगा था। छोटे भाई ने कारखाने में काम सीखकर अपने बड़े भाई की सहायता से अपनी एक छोटी सी दुकान खोल ली थी। इस प्रकार बड़े भाई की स्थिति अब सामान्य हो गई थी।

दूसरी ओर इन दो वर्षों में केशव की पत्नी के दो बच्चे हो चुके थे। और उसके लिए यह संभव नहीं था कि उनकी भली-भाँति देखभाल करे तथा घर का सारा काम भी करे। केशव ने घर के काम के लिए एक के बाद एक कई नौकर रखे, किंतु नौकर अपनी मरजी के अनुसार काम करते थे, चाहे काम मालिकों को पसंद आए,

बड़ा भाई दृढ़-निश्चयी था। उसने कहा, "जब तक हम संयुक्त परिवार की भाँति रहते हैं, तब तक मेरे और तुम्हारे धन में कोई अंतर नहीं था, क्योंकि हमारा हित संयुक्त था। अब पृथक्-पृथक् रहने पर सबकुछ बदल जाएगा। तुम्हारा मुझे कुछ देना न तो तुम्हारी पत्नी को भला प्रतीत होगा और न ही कुछ लेना मेरी पत्नी को।" "किंतु भैया, इन स्त्रियों को बीच में लाने की क्या आवश्यकता है? हम इसे केवल अपने तक ही सीमित रखें।" "नहीं, मैं तुम्हारी भाभी से छिपाकर कुछ नहीं रखता और न ही तुम्हें सुझाव दूंगा कि तुम अपनी पत्नी से कुछ छिपाकर रखो।"

चाहे न आए। कभी उनको डाँटा नहीं, अगले दिन उसने खाना खराब बना दिया, क्रॉकरी के दो - चार पीस तोड़ दिए। बच्चों को खिलाने के लिए कहा जाता, तो वह उनके पैर में इतने जोर से चुटकी काटता कि वे चिल्ला उठते और विवश होकर उन्हें माँ को ही सँभालना पड़ता। घर में घी - चीनी तथा अनाज आदि का तो हिसाब ही नहीं रहा था।

निर्मला का स्वास्थ्य भी निरंतर गिर रहा था। उसके गर्भ में इस समय तृतीय संतान थी। इस बार उसने गर्भपात कराने का निश्चय कर लिया। इसके लिए वह कई डॉक्टरों के पास गई, किंतु कोई सम्मानित डॉक्टर इस विषय में उसकी सहायता के लिए तैयार नहीं हुआ। विवश होकर इसके लिए उसे एक अशिक्षित चिकित्सक की सहायता लेनी पड़ी। गर्भपात तो हो गया, किंतु निर्मला ने बिस्तरा पकड़ लिया। उसको निरंतर ज्वर रहने लगा। डॉक्टरों को संदेह हो गया कि टी. बी. न हो गई हो।

इस सबसे केशव बहुत चिंतित रहने लगा और इसका परिणाम यह हुआ कि दफ्तर के काम में वह ध्यान न दे सका। उसके अधिकारी -गण उससे अप्रसन्न रहने लगे। पिछले दिनों उसे आशा थी कि उसकी पदोन्नति हो जाएगी, परंतु अब वह आशा भी विलीन हो गई।

नौकर भाग गया। अब केशव को घर का बहुत सा काम स्वयं करना पड़ता। निर्मला के लिए दवाई आदि लाना, उसकी टहल - सेवा तथा फिर दफ्तर का काम।

निर्मला के लिए तो उसने एक नर्स का प्रबंध कर दिया, परंतु उस नर्स को छह रुपए प्रतिदिन वेतन देना तय हुआ। इस प्रकार आधा से अधिक वेतन तो नर्स के ऊपर ही व्यय होने लगा था, शेष में दवा आदि तथा खाना -पीना एक समस्या बन गई।

यह व्यवस्था अधिक काल के लिए चल सकनी असंभव थी। यद्यपि केशव घर का बहुत सा काम स्वयं करता था, इस पर भी निर्मला को आराम नहीं मिल पा रहा था। बच्चों के ऊपर तो वही नजर रख सकती थी। इस प्रकार जीवन से निराश हो, बहुत ही दुःखी अवस्था में वह अपने भाई से मिलने जा पहुँचा। भाई के हाल - चाल पूछने पर केशव ने घर का सारा वृत्तांत कह सुनाया और फिर कहा, "यदि इसी प्रकार चलता रहा, तो ऑफिस से डिस्चार्ज नोटिस मिल जाएगा और फिर सारा परिवार भूखा ही मरेगा।"

"यह सुनकर मुझे बहुत ही दुःख हुआ है, केशव।" भाई ने केवल इतना कहा।

केशव को अपने भाई की वह निराशा स्मरण हो आई, जब उसने उनसे कहा था कि परिवार से पृथक् होना चाहता है। उस समय भाई को उसकी सहायता की आवश्यकता थी, परंतु उसके पृथक् हो जाने से भाई ने सहायता लेने से इनकार कर दिया। अब केशव को सहायता की आवश्यकता थी, परंतु तब की अवस्था का स्मरण कर वह माँग नहीं सका और कुछ देर बैठकर घर वापस चला आया।

अगले दिन जब वह ऑफिस से वापस आया, तो उसने देखा कि उसकी भतीजी कांता आई हुई है। केशव ने पूछ लिया, "कहो कांता, क्या हाल है ?"

"सब ठीक है चाचाजी।"नम्रता से कांता ने उत्तर दिया।

केशव ने देखा, आज घर की सफाई भली - भाँति हुई पड़ी है, बरतन तथा रसोई साफ पड़ी है और उसके लिए चाय भी तैयार है। आज चार मास बाद उसे शाम की चाय का स्वाद आया था। उसने अपनी पत्नी से पूछा,

"निर्मला, तुम्हारा क्या हाल है ?"

"जैसा हमेशा रहता है। नर्स छुट्टी माँगने लगी, तो मैं बहुत परेशान हुई। उसके बिना मेरा काम किस प्रकार चलेगा, मैं यही सोच रही थी कि इतने में कांता आ गई और कहने लगी कि वह आज दिन भर यहीं रहेगी। मैंने नर्स को छुट्टी दे दी। कांता तो अब होशियार हो गई है। इसने नर्स से कहीं अच्छी तरह मेरी सेवा की है।"

यह व्यवस्था अधिक काल के लिए चल सकनी असंभव थी। यद्यपि केशव घर का बहुत सा काम स्वयं करता था, इस पर भी निर्मला को आराम नहीं मिल पा रहा था। बच्चों के ऊपर तो वही नजर रख सकती थी। इस प्रकार जीवन से निराश हो, बहुत ही दुःखी अवस्था में वह अपने भाई से मिलने जा पहुँचा। भाई के हाल - चाल पूछने पर केशव ने घर का सारा वृतांत कह सुनाया और फिर कहा, "यदि इसी प्रकार चलता रहा, तो ऑफिस से डिस्चार्ज नोटिस मिल जाएगा और फिर सारा परिवार भूखा ही मरेगा।"

केशव के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब कांता का छोटा भाई मोहन भी आ गया और बच्चों से खेलने लगा। वह उनको लेकर समीप के एक पार्क में चला गया। रात कांता भोजन बनाने के बाद घर चली गई, परंतु मोहन वहीं रह गया। प्रातः उसने चाचा से सब्जी आदि तथा चाची से दवाई आदि लाने के विषय में पूछ लिया।

खाना बनाने तथा घर का प्रबंध करने के लिए कांता भी प्रात : आ गई। इस प्रकार सप्ताह भर चलता रहा। जब केशव को विश्वास हो गया कि कांता प्रतिदिन आती रहेगी, तो उसने नर्स की छुट्टी कर दी।

इस पर भी एक बात केशव समझ नहीं सका कि कांता ने भी उनके घर पर भोजन नहीं किया, न ही मोहन ने किसी वस्तु को छुआ। केशव ने कई बार कहा कि वह भोजन यहीं कर ले, परंतु कांता सदैव टालती रहती।

निर्मला के स्वास्थ्य में सुधार होने लगा था और

अब मैंने निश्चय किया है कि मैं वहाँ जाकर भैया तथा भाभी के चरणों में सिर रखकर क्षमा माँगूंगा और उनसे याचना करूँगा कि दोनों परिवार पुनः एक हो जाएँ। यह ठीक है कि उन दिनों तुम्हें भाभी से अधिक काम करना पड़ता था, परंतु युवा होने के कारण तुम यह कर सकती थीं, उसी प्रकार जैसे कांता अब यहाँ करती रही है। इस प्रकार काम करना किसी के प्रति एहसान करना नहीं होता। किसी संस्था की भाँति एक संयुक्त परिवार में किसी से सहायता प्राप्त करने के लिए स्वयं भी उनकी सहायता करने लिए तत्पर रहना चाहिए।

एक मास में उसका ज्वर जाता रहा। अब वह बैठकर थोड़ा - बहुत काम करने लगी थी। एक दिन निर्मला ने कांता से बहुत आग्रह किया कि आज वह भोजन उनके साथ ही खाए। इस पर कांता ने कह दिया, "चाची, मुझको बिलकुल भूख नहीं है।"

"कांता, मेरी खुशी के लिए ही थोड़ा सा खा लो।"

"किंतु मैं खा नहीं सकती। मुझे बिलकुल भूख नहीं है।"

"क्यों ?"

"यह तो मुझको भी पता नहीं।"

"तो तुम यहाँ क्यों आती हो ?"

"जिससे आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।"

केशव भी इनकी बातें सुन रहा था और वह स्वयं को इनसे अलिप्त न रख सका। उसने पूछा, "कांता, क्या तुम्हारी माताजी ने तुम्हें यहाँ काम करने के लिए भेजा है?"

"नहीं तो, मैं स्वयं ही आती हूँ। एक दिन आप पिताजी को अपनी कठिनाई बता रहे थे, तो मेरे दिल में चाची की सहायता करने की बात आई। अगले दिन मैंने पिताजी से पूछ लिया। उन्होंने माताजी की ओर संकेत किया। माताजी ने मुझे यहाँ आने की स्वीकृति दे दी और मैं यहाँ आने लगी। मुझे प्रसन्नता है कि चाची अब स्वस्थ हो रही हैं।"

"किंतु तुम्हें यह किसने कहा है कि तुम यहाँ खाना मत खाया करो। मैं समझता हूँ, यह तुम्हारा एक प्रकार से दृढ़ निश्चय है कि तुम हमारी कोई वस्तु नहीं लोगी।"

कांता ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। चुप्पी का अर्थ स्पष्ट था। केशव सब समझ गया। निर्मला को भी डंक सा लगा। वह कांता से कहनेवाली थी कि अब उसके आने की आवश्यकता नहीं, परंतु घर की स्थिति तथा अपनी असमर्थता देख वह मौन रही।

उस रात केशव ने निर्मला से पूछा, "क्या तुम्हें उस बात पर लज्जा की अनुभूति नहीं होती, जो तुमने मेरे भाई के साथ करवाई?"

"क्यों, मैंने क्या करवाया था ?"

"तुमने मुझसे उनकी सहायता बंद करवाई, जबकि उस समय उनको इसकी अत्यंत आवश्यकता थी। परिणाम यह हुआ कि सुंदर को तुरंत कॉलेज छोड़कर दुकान करनी पड़ी।"

"मैंने आपको उनकी आर्थिक सहायता करने से मना नहीं किया था। यह तो उन्होंने स्वयं अस्वीकार की थी।"

"नहीं, हमने इसके लिए उन्हें विवश कर दिया था। सुनो, अब मैंने निश्चय किया है कि मैं वहाँ जाकर भैया तथा भाभी के चरणों में सिर रखकर क्षमा माँगूंगा और उनसे याचना करूँगा कि दोनों परिवार पुनः एक हो जाएँ। यह ठीक है कि उन दिनों तुम्हें भाभी से अधिक काम करना पड़ता था, परंतु युवा होने के कारण तुम यह कर सकती थीं, उसी प्रकार जैसे कांता अब यहाँ करती रही है। इस प्रकार काम करना किसी के प्रति एहसान करना नहीं होता। किसी संस्था की भाँति एक संयुक्त परिवार में किसी से सहायता प्राप्त करने के लिए स्वयं भी उनकी सहायता करने लिए तत्पर रहना चाहिए।"

निर्मला को अपने प्रियजनों के समीप रहने से प्राप्त सुविधा का भास तो हो गया था, परंतु वह यह नहीं समझ पाई थी कि केवल एक घटना किस प्रकार संयुक्त परिवार के औचित्य को सिद्ध कर सकती है। उसने कहा,"हम दुर्भाग्यशाली थे, जिन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता पड़ी, किंतु ऐसा कोई नियम तो नहीं कि सबके साथ ऐसा ही होगा। हमारा दुर्भाग्य यह सिद्ध नहीं करता कि बड़े परिवारों की आवश्यकता रहती है।"

"किंतु निर्मला, हमारा दुर्भाग्य इस बात का सीधा परिणाम नहीं है, क्योंकि हमारा कोई ऐसा सहायक नहीं था, जो कि समय पर काम आए। चोर नित्य ही किसी के घर सेंध नहीं लगाते। इस पर भी पुलिस को सदा और सब स्थानों पर सचेत रखा जाता है। आग लगने की घटनाएँ नित्य और सदा नहीं होती, परंतु आग बुझानेवाले दमकल सदा तैयार रखे जाते हैं। भावी दुष्परिणामों को रोकने के लिए सदा सुरक्षात्मक उपाय व्यवहार में लाए जाते हैं। बहुत से लोगों का एक साथ एक परिवार के रूप में रहना ऐसी संभावित विपत्ति से, जैसी हम पर आन पड़ी थी, चौकस रहने का प्रयत्न है।

"निर्मला, तुम्हीं बताओ, जो सेवा कांता और मोहन केवल स्नेहवश करते रहते हैं, वह क्या किसी भी मूल्य पर मिल सकती थी ?"

"किंतु हमारी वैयक्तिक स्वतंत्रता का क्या होगा ? निर्मला ने निरुत्तर होते हुए अब यह प्रश्न कर डाला।

"वह सदैव तुम्हारे पास रहेगी, यदि तुममें उसको बनाए रखने की योग्यता होगी। अयोग्यों की वैयक्तिक स्वतंत्रता उनके अहित में ही होती है।"

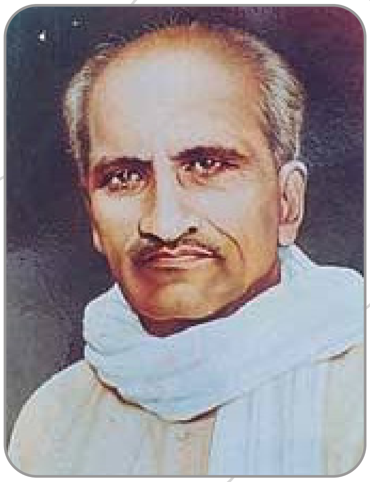

शरणागत

– वृंदावनलाल वर्मा

रज्जब कसाई अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो सौ-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था; इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में थी, और बैलगाड़ी किराए पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परंतु ठहरता कहाँ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीद कर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छुपे बेचे थे। ठहरने में तुरंत ही तरह-तरह की खबरें फैलती, इसलिए सबों ने इन्कार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। जिसका हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परंतु उसके गाँववाले गढ़ी के आदरव्यंजक शब्द से पुकारा करते, और ठाकुर को डरके मारे 'राजा' शब्द संबोधन करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को ले कर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम कर के कहा 'दाऊजू, एक बिनती है।'

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा - "क्या?"

रज्जब बोला - "दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला - "जानता है, यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?"

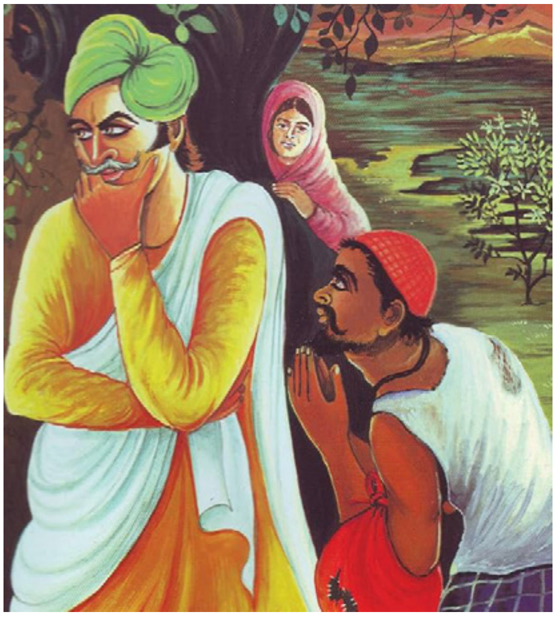

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा - "यह राजा का घर है, इसलिए शरण में आया हुआ है।"

तुरंत ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला - "किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया?"

"नहीं महाराज," रज्जब ने उत्तर दिया - "बहुत कोशिश की, परंतु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" वह दरवाजे के बाहर ही एक कोने से चिपट कर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बन कर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा- "तुम अपनी चिलम लिए हो?"

"हाँ, सरकार।" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला- "तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।

जब वह दोनों भीतर आ गए, तो ठाकुर ने पूछा - "तुम कब यहाँ से उठ कर चले जाओगे?" जवाब मिला- "अँधेरे में ही महाराज। खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम?"

"रज्जब।"

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा - "कहाँ से आ रहे हो?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किसलिए गए थे?"

"अपने रोजगार के लिए।"

"काम तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ, पेट के लिए करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिए जो रोजगार नियत किया है, वहीं उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफा हुआ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़ कर।

रज्जब ने जवाब दिया- "महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है। यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई जिद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला- "बड़े भोर उठ कर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन भर के थके हुए पति-पत्नी सो गए। काफी रात गए कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगंतुकों में से एक ने धीरे से कहा - "दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा - "आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था?"

"हाँ", आगंतुक बोला - "एक कसाई रुपए की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परंतु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा - "कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपए पर कसाई थोड़े लिखा है।"

"परंतु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने सोच कर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा कसाई सो रहा था और उसकी पत्नी भी। ठाकुर भी सो गया।

सबेरा हो गया, परंतु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हल्का हो गया था, परंतु शरीर भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देख कर कुपित हो गया। रज्जब से बोला - "मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किए हैं। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देख कर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, परंतु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव-भर उसके दबदबे को मानता था, परंतु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक, एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिंदू मात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर - आध पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परंतु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराए पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया ले कर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थीं, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम से कम कँपकँपी बंद न हो जाय।

घंटे-डेढ़-घंटे बाद उसकी कँपकँपी बंद तो हो गई, परंतु ज्वर बहुत तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला - "दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो।"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला - "इतने किराए में काम नहीं चलेगा, अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत हो कर कहने लगा - "भाई,

आफत सबके ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुन कर गाड़ीवान को हँसी आ गई। उसको टस से मस न होता देख कर रज्जब ने और पैसे दिए। तब उसने गाड़ी हाँकी।

पाँच-छ: मील चले के बाद संध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली, रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है - और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही दे देने पड़े थे। उसको गाड़ीवान पर क्रोध था, परंतु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से

उसने वार्तालाप आरंभ किया -

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल को फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूँगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा?"

"जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता !"

"क्या बतला देते? क्या सेंत-मेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?"

"क्यों बे, क्या रुपया दे कर भी सेंत-मेंत का बैठना कहाता है? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो नालायक को यहीं छुरे से काट कर फेंक दूँगा और गाड़ी ले कर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परंतु शायद अकारण ही वह भली भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुन कर उसकी हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानों पसलियों को उसकी ठंडी छूरी छू रही है।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा - गाँव आते ही गाड़ी छोड़ कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला-गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपए-पैसे भली ही वापस कर दूँगा, परंतु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले !

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर खड़े हो गए। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए जरा कड़क कर गाड़ीवान से बोला - "क्यों बे बदमाश, सो गया क्या?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कंठ से निकला, "खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लठ बाँध कर न जाने कहाँ से आ गए हैं। उनमें तुरंत ही एक ने बैलों की जुआरी पर एक लठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आ कर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गए।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़ कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला - "मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है?" एक ने गरज कर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही नम्र स्वर में कहा - "मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिए।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला - "महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराए से गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है? बतला।" उन लोगों में से एक ने पुछा।

गाड़ीवान ने तुरंत उत्तर दिया - "ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई। लाठीवाले के मुँह से निकला - "तुम कसाई हो? सच बताओ !"

"हाँ, महाराज!" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया - "मैं बहुत गरीब हुँ। हाथ जोड़ता हूँ मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा - "इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहाँ से।"

उसने न माना। बोला- "इसका खोपड़ा चकनाचुर करो दाऊजू, यदि वैसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा," उसने कहा - "इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।"

दूसरा बोला- "क्या कसाई होने के डर से दाऊजू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गए हैं। मैं देखता हूँ!" और उसने तुरंत लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ा कर तुरंत रुपया-पैसा निकाल देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा - "नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से," गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया - "मैं कसाइयों की दवा हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा - "खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चकनाचूर किए देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवाला लठैत झख-सी मार कर नीचे उतर आया।

नीचेवाले व्यक्ति ने कहा - "सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला - "जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँच आना, तब लौटना, नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी, इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसी की आग में जला कर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी ले कर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़ कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा - "दाऊजू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजू ने कहा - "न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परंतु बुंदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

सुखमय जीवन

– चंद्रधर शर्मा गुलेरी

> **बाबाजी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए। बेशक, कमला की माँ सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन हाँक रहा है। आपकी आज्ञा हो, तो कमला और मैं दोनों सच्चे सुखमय जीवन का आरंभ करें। दस वर्ष पीछे मैं जो पोथी लिखूँगा, उसमें किताबी बातें न होंगी, केवल अनुभव की बातें होगी।**

परीक्षा देने के पीछे और उसके फल निकलने के पहले दिन किस बुरी तरह बीतते हैं, यह उन्हीं को मालूम है जिन्हें उन्हें गिनने का अनुभव हुआ है। सुबह उठते ही परीक्षा से आज तक कितने दिन गए, यह गिनते हैं और फिर 'कहावती आठ हफ्ते' में कितने दिन घटते हैं, यह गिनते हैं। कभी-कभी उन आठ हफ्तों पर कितने दिन चढ़ गए, यह भी गिनना पड़ता है। खाने बैठे है और डाकिए के पैर की आहट आई - कलेजा मुँह को आया। मुहल्ले में तार का चपरासी आया कि हाथ-पाँव काँपने लगे। न जागते चैन, न सोते-सुपने में भी यह दिखता है कि परीक्षक साहब एक आठ हफ्ते की लंबी छुरी ले कर छाती पर बैठे हुए हैं।

मेरा भी बुरा हाल था। एल-एल.बी. का फल अबकी और भी देर से निकलने को था - न मालूम क्या हो गया था, या तो कोई परीक्षक मर गया था, या उसको प्लेग हो गया था। उसके पर्चे किसी दूसरे के पास भेजे जाने को थे। बार-बार यही सोचता था कि प्रश्नपत्रों की जाँच किए पीछे सारे परीक्षकों और रजिस्ट्रारों को भले ही प्लेग हो जाय, अभी तो दो हफ्ते माफ करें। नहीं तो परीक्षा के पहले ही उन सबको प्लेग क्यों न हो गया? रात-भर नींद नहीं आई थी, सिर घूम रहा था, अखबार पढ़ने बैठा कि देखता क्या हूँ लिनोटाइप की मशीन ने चार-पाँच पंक्तियाँ उलटी छाप दी हैं। बस, अब नहीं सहा गया - सोचा कि घर से निकल चलो; बाहर ही कुछ जी बहलेगा। लोहे का घोड़ा उठाया कि चल दिए।

तीन-चार मील जाने पर शांति मिली। हरे-हरे खेतों की हवा, कहीं पर चिड़ियों की चहचह और कहीं कुओं पर खेतों को सींचते हुए किसानों का सुरीला गाना, कहीं देवदार के पत्तों की सोंधी बास और कहीं उनमें हवा का सी-सी करके बजना - सबने मेरे परीक्षा के भूत की सवारी को हटा लिया। बाइसिकिल भी गजब की चीज है। न दाना माँगे, न पानी, चलाए जाइए जहाँ तक पैरों में दम हो। सड़क में कोई था ही नहीं, कहीं-कहीं किसानों के लड़के और गाँव के कुत्ते पीछे लग जाते थे। मैंने बाइसिकिल को और भी हवा कर दिया। सोचा था कि मेरे घर सितारपुर से पंद्रह मील पर कालानगर हैं - वहाँ की मलाई की बरफ अच्छी होती है और वहीं मेरे एक मित्र रहते हैं, वे कुछ सनकी हैं। कहते है कि जिसे पहले देख लेंगे, उससे विवाह करेंगे। उनसे कोई विवाह की चर्चा करता है, तो अपने सिद्धांत के मंडल का व्याखान देने लग जाते हैं। चलो, उन्ही से सिर खाली करें।

खयाल-पर-खयाल बँधने लगा। उनके विवाह का इतिहास याद आया। उनके पिता कहते थे कि सेठ गणेशलाल की एकलौती बेटी से अबकी छुट्टियों में तुम्हारा ब्याह कर देंगे। पड़ोसी कहते थे कि सेठ जी की लड़की कानी और मोटी है और आठ ही वर्ष की है। पिता कहते थे कि लोग जल कर ऐसी बातें उड़ाते हैं; और लड़की वैसी भी हो तो क्या, सेठजी के कोई लड़का है नहीं; बीस-तीस हजार का गहना देंगे। मित्र महाशय मेरे साथ-साथ डिबेटिंग क्लबों में बाल-विवाह और माता-पिता की जबरदस्ती पर इतने व्याखान झाड़ चुके थे कि अब मारे लज्जा के साथियों में मुँह

नहीं दिखाते थे। क्योंकि पिताजी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। व्यक्तिगत विचार से साधारण विचार उठने लगे। हिन्दू-समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार चल नहीं सकते। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हमारे सद्‌विचार एक तरह के पशु हैं जिनकी बलि माता-पिता की जिद और हठ की वेदी पर चढ़ाई जाती है।...भारत का उद्धार तब तक नहीं हो सकता - ।

फिस्स्स्! एकदम अर्श से फर्श पर गिर पड़े। बाइसिकिल की फूँक निकल गई। कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। पंप साथ नहीं थी और नीचे देखा तो जान पड़ा कि गाँव के लड़कों ने सड़क पर ही काँटों की बाड़ लगाई है। उन्हें भी दो गालियाँ दीं पर उससे तो पंक्चर सुधरा नहीं। कहाँ तो भारत का उद्धार हो रहा था और कहाँ अब कालानगर तक इस चरखे को खैंच ले जाने की आपत्ति से कोई निस्तार नहीं दिखता। पास के मील के पत्थर पर देखा कि कालानगर यहाँ से सात मील है। दूसरे पत्थर के आते-आते मैं बेदम हो लिया था।

धूप जेठ की, और कंकरीली सड़क, जिसमें लदी हुई बैलगाड़ियों की मार से छः-छः इंच शक्कर की-सी बारीक पिसी हुई सफेद मिट्टी बिछी हुई! काले पेटेंट लेदर के जूतों पर एक-एक इंच सफेद पालिश चढ़ गई। लाल मुँह को पोंछते-पोंछते रूमाल भीग गया और मेरा सारा आकार सभ्य विद्वान का-सा नहीं, वरन सड़क कूटने वाले मजदूर का-सा हो गया। सवारियों के हम लोग इतने गुलाम हो गए हैं कि दो-तीन मील चलते ही छठी का दूध याद आने लगता है!

'बाबूजी क्या बाइसिकिल में पंक्चर हो गया?'

एक तो चश्मा, उस पर रेत की तह जमी हुई, उस पर ललाट से टपकते हुए पसीने की बूँदें, गर्मी की चिढ़ और काली रात-सी लंबी सड़क - मैंने देखा ही नहीं था कि दोनों ओर क्या है। यह शब्द सुनते ही सिर उठाया, तो देखा की एक सोलह-सत्रह वर्ष की कन्या सड़क के किनारे खड़ी है।

'हाँ, हवा निकल गई है और पंक्चर भी हो गया है। पंप मेरे पास है नहीं। कालानगर बहुत दूर तो है नहीं - अभी जा पहुँचता हूँ।'

अंत का वाक्य मैंने केवल ऐंठ दिखाने के लिए कहा था। मेरा जी जानता था की पाँच मील पाँच सौ मील के-से दिख रहे थे।

'इस सूरत से तो आप कालानगर क्या कलकत्ते पहुँच जाएँगे। जरा भीतर चलिए, कुछ जल पीजिए। आपकी जीभ सूख कर तालू से चिपक गई होगी। चाचाजी की बाइसिकिल में पंप है और हमारा नौकर गोबिंद पंक्चर सुधारना भी जानता है।'

'नहीं, नहीं - '

'नहीं, नहीं, क्या, हाँ, हाँ!'

यों कह कर बालिका ने मेरे हाथ से बाइसिकिल छीन ली और सड़क के एक तरफ हो ली। मैं भी उसके पीछे चला। देखा कि एक कँटीली बाड़ से घिरा बगीचा है जिसमें एक बँगला है। यहीं पर कोई 'चाचाजी' रहते होगें, परंतु यह बालिका कैसी -

मैंने चश्मा रूमाल से पोंछा और उसका मुँह देखा। पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुखमंडल दमकता था और उसकी आँखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और विस्मय से देख रही थीं। बस, पाठक! ऐसी आँखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वो मेरे कलेजे को घोल कर पी गई। एक अद्‌भुत कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्र नाम आए हैं? मैंने एक सेकंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आँखें त्रिलोकी में न होगीं और यदि किसी स्त्री की आँखों को प्रेम-बुद्धि से कभी देखूँगा तो इन्हीं को।

'आप सितारपुर से आए हैं। आपका नाम क्या है?'

'मैं जयदेवशरण वर्मा हूँ। आपके चाचाजी - '

'ओ-हो, बाबू जयदेवशरण वर्मा, बी.ए.; जिन्होंने 'सुखमय जीवन' लिखा है! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए! मैंने आपकी पुस्तक पढ़ी है और चाचाजी तो उसकी प्रशंसा बिना किए एक दिन भी नहीं जाने देते। वे आपसे मिल कर बहुत प्रसन्न होंगे; बिना भोजन किए आपको न जाने देगें और आपके ग्रंथ को पढ़ने से हमारा परिवार-सुख कितना बढ़ा है, इस पर कम-से-कम दो घंटे तक व्याख्यान देंगे।'

स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ की। यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है। जिस साल मैंने बी.ए. पास किया था उस साल कुछ दिन लिखने की धुन उठी थी। लॉ कॉलेज के फर्स्ट इयर में सेक्शन और कोड की परवाह न करके एक 'सुखमय जीवन' नामक पोथी लिख चुका था। समालोचकों ने आड़े हाथों लिया था और वर्ष-भर में सत्रह प्रतियाँ बिकी थीं। आज मेरी कदर हुई कि कोई उसका सराहनेवाला तो मिला।

इतने में हम लोग बरामदे में पहुँचे, जहाँ पर कनटोप पहने, पंजाबी ढंग की दाढ़ी रखे एक अधेड़ महाशय कुर्सी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे। बालिका बोली -

'चाचाजी, आज आपके बाबू जयदेवशरण वर्मा बी.ए. को साथ लाई हूँ। इनकी बाइसिकिल बेकाम हो गई है। अपने प्रिय ग्रंथकार से मिलाने के लिए कमला को धन्यवाद मत दीजिए, दीजिए उनके पंप भूल आने को!'

वृद्ध ने जल्दी ही चश्मा उतारा और दोनों हाथ बढ़ा कर मुझसे मिलने के लिए पैर बढ़ाए।

'कमला, जरा अपनी माता को बुला ला। आइए बाबू साहब, आइए। मुझे आपसे मिलने की बड़ी उत्कंठा थी। मैं गुलाबराय वर्मा हूँ। पहले कमसेरियट में हेड क्लर्क था। अब पेंशन ले कर इस एकाक स्थान में रहता हूँ। दो गौ रखता हूँ और कमला तथा उसके भाई प्रबोध को पढ़ाता हूँ। मैं ब्रह्मसमाजी हूँ; मेरे यहा परदा नहीं है। कमला ने हिंदी मिडिल पास कर लिया

कहावत है कि वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है? मेरे मन में आई कि कहूँ दूँ कि अभी मेरी पचीसवाँ वर्ष चल रहा है, कहाँ का अनुभव और कहाँ का परिवार? फिर सोचा के ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाहों से उतर जाऊँगा और कमला की माँ सच्ची हो जायगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ के कर्तव्य-धर्मों पर पुस्तक लिख मारी है। यह सोचकर मैं मुस्करा दिया और ऐसी तरह मुँह बनाने लगा कि वृद्ध समझा कि अवश्य मैं संसार-समुद्र में गोते मार कर नहाया हुआ हूँ।

है। हमारा समय शास्त्रों के पढ़ने में बीतता है। मेरी धर्म-पत्नी भोजन बनाती और कपड़े सी लेती है; मैं उपनिषद और योग वासिष्ठ का तर्जुमा पढ़ा करता हूँ। स्कूल में लड़के बिगड़ जाते हैं, प्रबोध को इसिलिए घर पर पढ़ाता हूँ।'

इतना परिचय दे चुकने पर वृद्ध ने श्वास लिया। मुझे इतना ज्ञान हुआ कि कमला के पिता मेरी जाति के ही हैं। जो कुछ उन्होंने कहा था, उसकी ओर मेरे कान नहीं थे - मेरे कान उधर थे, जिधर से माता को ले कर कमला आ रही थी।

'आपका ग्रंथ बड़ा ही अपूर्व है। दांपत्य सुख चाहनेवालों के लिए लाख रुपए से भी अनमोल है। धन्य है आपको! स्त्री को कैसे प्रसन्न रखना, घर में कलह कैसे नहीं होने देना, बाल-बच्चों को क्योंकर सच्चरित्र बनाना, इन सब बातों में आपके उपदेश पर चलने वाला पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख भोग सकता है। पहले कमला की माँ और मेरी कभी-कभी खट-पट हो जाया करती थी। उसके ख्याल अभी पुराने ढंग के हैं। पर जब से मैं रोज भोजन पीछे उसे आध घंटे तक आपकी पुस्तक का पाठ सुनाने लगा हूँ, तब से हमारा जीवन हिंडोले की तरह झूलते-झूलते बीतता हैं।

मुझे कमला की माँ पर दया आई, जिसको वह कूड़ा-करकट रोज सुनना पड़ता होगा। मैंने सोचा कि हिंदी के पत्र-संपादकों में यह बूढ़ा क्यों न हुआ? यदि होता तो आज मेरी तूती बोलने लगती।

'आपको गृहस्थ-जीवन का कितना अनुभव है! आप सब कुछ जानते है! भला, इतना ज्ञान कभी पुस्तकों में मिलता है? कमला की माँ कहा करती थी कि आप केवल किताबों के कीड़े हैं, सुनी-सुनाई बातें लिख रहे हैं। मैं बार-बार यह कहता था कि इस पुस्तक के लिखने वाले को परिवार का खूब अनुभव है। धन्य है आपकी सहधर्मिणी! आपका और उसका जीवन कितना सुख से बीतता होगा! और जिन बालकों के आप पिता हैं, वे कैसे बड़भागी हैं कि सदा आपकी शिक्षा में रहते हैं; आप जैसे पिता का उदाहरण देखते हैं।

कहावत है कि वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है? मेरे मन में आई कि कहूँ दूँ कि अभी मेरी पचीसवाँ वर्ष चल रहा है, कहाँ का अनुभव और कहाँ का परिवार? फिर सोचा के ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाहों से उतर जाऊँगा और कमला की माँ सच्ची हो जायगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ के कर्तव्य-धर्मों पर पुस्तक लिख मारी है। यह सोचकर मैं मुस्करा दिया और ऐसी तरह मुँह बनाने लगा कि वृद्ध समझा कि अवश्य मैं संसार-समुद्र में गोते मार कर नहाया हुआ हूँ।

वृद्ध ने उस दिन मुझे जाने नहीं दिया। कमला की माता ने प्रीति के साथ भोजन कराया और कमला ने पान ला कर दिया। न मुझे अब कालानगर की मलाई की बरफ याद रही न सनकी मित्र की। चाचा जी की बातों में फी सैकड़े सत्तर तो मेरी पुस्तक और उनके रामबाण लाभों की प्रशंसा थी, जिसको सुनते-सुनते मेरे कान दुख गए। फी सैकड़े पचीस वह मेरी प्रशंसा और मेरे पति-जीवन और पितृ जीवन की महिमा गा रहे थे। काम की बात बीसवाँ हिस्सा थी जिससे मालूम पड़ा कि अभी कमला का विवाह नहीं हुआ, उसे अपनी फूलों की क्यारी को सँभालने का बड़ा प्रेम है, 'सखी' के नाम से 'महिला-मनोहर' मासिक प्रत्र में लेख भी दिया करती है।

सायंकाल को मैं बगीचे में टहलने निकला। देखता क्या हूँ एक कोने में केले के झाड़ों के नीचे मोतिए और रजनीगंधा की क्यारियाँ हैं और कमला उनमें पानी दे रही है। मैंने सोचा की यही समय है। आज मरना है या जीना है। उसको देखते ही मेरे हृदय में प्रेम की अग्नि जल उठी थी और दिन-भर वहाँ रहने से वह धधकने लग गई थी। दो ही पहर में मैं बालक से युवा हो गया था।

अंगरेजी महाकाव्यों में, प्रेममय उपन्यासों में और कोर्स के संस्कृत-नाटकों में जहाँ-जहाँ प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहाँ-वहाँ का दृश्य स्मरण करके वहाँ-वहाँ के वाक्यों को घोख रहा था, पर यह निश्चय नहीं कर सका कि इतने थोड़े परिचय पर भी बात कैसी करनी चाहिए।

अंत में अंगरेजी पढ़नेवाले की धृष्टता ने आर्यकुमार की शालीनता पर विजय पाई और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़ कर कमला हाथ पकड़ लिया। उसके चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई और डोलची उसके हाथ से गिर पड़ी। मैं उसके कान में कहने लगा -

'आपसे एक बात कहनी है।'

'क्या? यहाँ कहने की कौन-सी बात है?'

'जब से आपको देखा है तब से -

'बस चुप करो। ऐसी धृष्टता !'

अब मेरा वचन-प्रवाह उमड़ चुका था। मैं स्वयं

नहीं जानता था कि मैं क्या कर रहा हूँ, पर लगा बकने - 'प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़ कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरी जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बन कर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जब से तुम्हें देखा है, मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं तब तक शांति न पाऊँगा जब तक तुम - '

कमला जोर से चीख उठी और बोली - आपको ऐसी बातें कहते लज्जा नहीं आती? धिक्कार है आपकी शिक्षा को और धिक्कार आपकी विद्या को! इसी को आपने सभ्यता मान रखा है कि अपरिचित कुमारी से एकांत ढूँढ़ कर ऐसा घृणित प्रस्ताव करें। तुम्हारा यह साहस कैसे हो गया? तुमने मुझे क्या समझ रखा है? 'सुखमय जीवन' का लेखक और ऐसा घृणित चरित्र! चिल्लू भर पानी में डूब मरो। अपना काला मुँह मत दिखाओ। अभी चाचाजी को बुलाती हूँ।'

मैं सुनता जा रहा था क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? यह अग्नि-वर्षा मेरे किस अपराध पर? तो भी मैंने हाथ नहीं छोड़ा। कहने लगा, 'सुनो कमला, यदि तुम्हारी कृपा हो जाय, तो सुखमय जीवन - '

'देखा तेरा सुखमय जीवन! आस्तीन के साँप! पापात्मा!! मैंने साहित्य-सेवी जान कर और ऐसे उच्च विचारों का लेखक समझ कर तुझे अपने घर में घुसने दिया और तेरा विश्वास और सत्कार किया था। प्रच्छन्नपापिन! वकदांभिक! बिड़ालव्रतिक! मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं।' चाचाजी आ कर लाल-लाल आँखें दिखाते हुए, क्रोध से काँपते हुए कहने लगे - 'शैतान, तुझे यहाँ आ कर माया-जाल फैलाने का स्थान मिला। ओफ! मैं तेरी पुस्तक से छला गया। पवित्र जीवन की प्रशंसा में फार्मों-के-फार्म काले करनेवाले, तेरा ऐसा हृदय! कपटी! विष के घड़े - '

उनका धाराप्रवाह बंद ही नहीं होता था, पर कमला की गालियाँ और थीं और चाचाजी की और। मैंने भी गुस्से में आ कर कहा, 'बाबू साहब, जबान सँभाल कर बोलिए। आपने अपनी कन्या को शिक्षा दी है और सभ्यता सिखाई है, मैंने भी शिक्षा पाई है और कुछ सभ्यता सीखी है। आप धर्म-सुधारक है। यदि मैं उसके गुण रूपों पर आसक्त हो गया, तो अपना पवित्र प्रणय उसे क्यों न बताऊँ? पुराने ढर्रे के पिता दुराग्रही होते सुने गए हैं। आपने क्यों सुधार का नाम लजाया है?'

'तुम सुधार का नाम मत लो। तुम तो पापी हो। 'सुखमय जीवन' के कर्ता हो कर - '

भाड़ में जाय 'सुखमय जीवन'! उसी के मारे नाकों दम है!! 'सुखमय जीवन' के कर्ता ने क्या यह शपथ खा ली है कि जनम-भर क्वाँरा ही रहे? क्या उसे प्रेमभाव नहीं हो सकता? क्या उसमें हृदय नहीं होता?'

'हें, जनम-भर क्वाँरा?'

'हें काहे की? मैं तो आपकी पुत्री से निवेदन कर रहा था कि जैसे उसने मेरा हृदय हर लिया है वैसे यदि अपना हाथ मुझे दे, तो उसके साथ 'सुखमय जीवन' के उन आदर्शों का प्रत्यक्ष अनुभव करूँ, जो अभी तक मेरी कल्पना में है। पीछे हम दोनों आपकी आज्ञा माँगने आते। आप तो पहले ही दुर्वासा बन गए।'

'तो आपका विवाह नहीं हुआ? आपकी पुस्तक से तो जान पड़ता है कि आप कई वर्षों के गृहस्थ-जीवन का अनुभव रखते हैं। तो कमला की माता ही सच्ची थीं।'

इतनी बातें हुई थीं, पर न मालूम क्यों मैंने कमला का हाथ नहीं छोड़ा था। इतनी गर्मी के साथ शास्त्रार्थ हो चुका था, परंतु वह हाथ जो क्रोध के कारण लाल हो गया था, मेरे हाथ में ही पकड़ा हुआ था। अब उसमें सात्विक भाव का पसीना आ गया था और कमला ने लज्जा से आँखें नीची कर ली थीं।

विवाह के पीछे कमला कहा करती है कि न मालूम विधाता की किस कला से उस समय मैंने तुम्हें झटक कर अपना हाथ नहीं खेंच लिया। मैंने कमला के दोनों हाथ खैंच कर अपने हाथों के संपुट में ले लिए (और उसने उन्हें हटाया नहीं!) और इस तरह चारों हाथ जोड़ कर वृद्ध से कहा -

> आपका ग्रंथ बड़ा ही अपूर्व है। दांपत्य सुख चाहनेवालों के लिए लाख रुपए से भी अनमोल है। धन्य है आपको! स्त्री को कैसे प्रसन्न रखना, घर में कलह कैसे नहीं होने देना, बाल-बच्चों को क्योंकर सच्चरित्र बनाना, इन सब बातों में आपके उपदेश पर चलने वाला पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख भोग सकता है। पहले कमला की माँ और मेरी कभी-कभी खट-पट हो जाया करती थी। उसके ख्याल अभी पुराने ढंग के हैं। पर जब से मैं रोज भोजन पीछे उसे आध घंटे तक आपकी पुस्तक का पाठ सुनाने लगा हूँ, तब से हमारा जीवन हिंडोले की तरह झूलते-झूलते बीतता है।

'चाचाजी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए। बेशक, कमला की माँ सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन हाँक रहा है। आपकी आज्ञा हो, तो कमला और मैं दोनों सच्चे सुखमय जीवन का आरंभ करें। दस वर्ष पीछे मैं जो पोथी लिखूँगा, उसमें किताबी बातें न होंगी, केवल अनुभव की बातें होगी।'

वृद्ध ने जेब से रूमाल निकाल कर चश्मा पोंछा और अपनी आँखें पोंछीं। आँखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आँसू थे, या घर बैठी पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आँसू, राम जाने।

उन्होंने मुस्करा कर कमला से कहा, 'दोनों मेरे पीछे-पीछे चले आओ। कमला! तेरी माँ ही सच कहती थी।' वृद्ध बँगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आँखें मूँद कर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।

कप्तान

– शिवरानी देवी

सिपाही और कप्तान के लिए यह सोचना बिलकुल ग़लत बात है, क्योंकि उसकी ड्यूटी जो है। जहाँ ओहदा मिलता है, ओहदे के सामने मौत सर पर रहती है। जिस ख़ुशी से आप ओहदे को गले से लगाते हैं, उसी तरह ख़ुशी से कप्तान और सिपाही की मौत को भी गले से लगाना चाहिये। कर्तव्य के सामने विमुख होना यह बहादुर का काम नहीं है। फिर कैसी माँ, कैसी बीवी और कैसी दुनिया!

जोरावर सिंह की जिस दिन शादी हुई, बहू आई, उसी रोज जोरावर सिंह की कप्तानी को जगह मिली। घर में आकर बोला जोरावर अपनी बीवी से — 'तुम बड़ी भाग्यवान हो। कल तुम आई नहीं, आज मैं कप्तान बन बैठा।'

उसकी बीवी का नाम सुभद्रा; सुभद्रा यह सब सुन करके खुश होने के बजाय चिन्तित हो गई।

जोरावर – तुम तो खुश नहीं मालूम हो रही हो।

सुभद्रा – जिसकी लोग खुशी कहते हैं, उस खुशी के अन्दर गम भी तो छिपा रहता है।

जोरावर – कैसा गम! इस उमंग के दिनों में ग़म का नाम ही क्या! बहू आई शाम को, सुबह अच्छा ओहदा! इससे ज्यादा खुशी की बात मेरे लिये और तुम्हारे लिये और हो ही क्या सकती है?

सुभद्रा – जरा ठण्डे दिल से सोचो कि ये दोनों खुशी की बातें नहीं हैं। मेरा आना यह भी एक तरह की जिम्मेदारी, तुम्हारी - मेरी दोनों की; और जो आपको ओहदा मिला इसमें भी कर्तव्य का अपना बंधन। पूरे उतरे तो सब ठीक ही ठीक है, कच्चे उतरे तो और मिट्टी पलीत हो जाएगी।

जोरावर – तुम तो न मालूम क्या-क्या बातें बक गई, मेरी समझ में ख़ाक-पत्थर कुछ भी नहीं आया और ये तो बुढ़ापे के चरखें हैं सब। जवान आदमी कभी यह नहीं सोचता। क्या कर्तव्य और काम भी कोई चीज है।

सुभद्रा – यह तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा। इसको बारीकी से, जो दोनों के विषय में सोचो, तो ये दोनों महँगे सौदे हैं।

जोरावर – मैं यह सब नहीं सुनना चाहता तुम्हारे मुँह से। इस उम्र में कोई इन बातों को सुनना गवारा नहीं करता। मैं सच कहता हूँ तुमसे, मैंने अभी अम्मा से यह नहीं बताया कि मुझे आज यह ओहदा मिला है। मैं तो सीधा तुमको आया यह खुशखबरी देने।

सुभद्रा – तो बता आइये माताजी से भी, बता आइए।

'अच्छा, अच्छा, मैं जाता हूँ। तुम्हारे पास तो बहुत उपदेश सुने! देखू, अम्मा भी उपदेश सुनाती हैं।'

सुभद्रा – अम्माजी सुनायें तो मुझसे कहीं ज्यादा सुना सकती हैं, और मुझसे कहीं ज्यादा दुनिया का ज्ञान उन्होंने पाया है।

जोरावर – पूरे उम्र में तो मैं भी तुमसे ज्यादा हूँ।

सुभद्रा – जो चीज तुम पुरुषों को नहीं मिली, क्या अब हमसे उधार लोगे? तुम दूसरे धातु के बने हुए हो।

जोरावर – अच्छा मैं जाता हूँ।

उठ करके जोरावर माँ के पास पहुँचा। माँ ने उस समय गाना करवाने के लिए गानेवालियों को बुला रखा था। माँ के पैर छूते हुए बोला– अम्मा तुम्हें खुशखबरी सुनाता हूँ। मैं कप्तान हो गया।

माँ, बेटे को सीने से लगाकर बोली - बेटा, जो काम तुमको सौंपा गया है, ईश्वर करे उसमें तुम सफल हो।

'सफल' शब्द सुनकर जोरावर अपने मन में उसे दोहराने लगा। अपने दिल से पूछता है, क्या इस शब्द में, जो सुभद्रा ने कहा है, क्या माँ के दिल में भी वही बात है? यह 'सफल' शब्द.... अगर मैं माँ से पूछने लगूं कि यह 'सफल' लफ्ज आपने क्यों कहा? क्या आपके मन में भी कुछ सफल-विफल होने का रहस्य

है? जरूर इन्होंने भी इसमें कुछ माने - मतलब लगाये हैं। अगर पूछता हूँ तो वे भी मुझे उपदेश देने लगेंगी। मगर कुछ बोला नहीं। (माँ से) अम्मा मुझे कल ही तो जाना है।

कल का शब्द सुनकर माँ कुछ दहल-सी गई। अभी कल ही तो बहू आई है घर में और कल सुबह यह चला जाएगा! माँ पर जैसे एक बोझ-सा लद गया।

रात को जब सुभद्रा के पास पहुँचा, बोला – कल तो मुझे जाना है। एक बात का मुझे अफ़सोस है कि मैं कल ही चला जाऊंगा तुम्हें छोड़कर! यह बात मुझे तकलीफ़ देती है।

सुभद्रा – सिपाही और कप्तान के लिए यह सोचना बिलकुल ग़लत बात है, क्योंकि उसकी डयूटी जो है। जहाँ ओहदा मिलता है, ओहदे के सामने मौत सर पर रहती है। जिस खुशी से आप ओहदे को गले से लगाते हैं, उसी तरह खुशी से कप्तान और सिपाही की मौत को भी गले से लगाना चाहिये। कर्तव्य के सामने विमुख होना यह बहादुर का काम नहीं है। फिर कैसी माँ, कैसी बीवी और कैसी दुनिया!

उसको तो जो काम मिला है, ड्यूटी - ड्यूटी को ठीक-ठीक अदा करना चाहिये। कहीं ज्यादा बेहतर है कि भागा हुआ सिपाही मौत को गले से लगाये। उसके लिए तो दो ही रास्ते हैं, या तो विजय, या मौत।

जोरावर का चेहरा उतर गया। अभी से ऐसी बात! बोला – क्या मैं मौत के मुँह में जा रहा हूँ? आज पचास बरस से सिपाही कप्तान मुफ्त का खाते हैं सरकार के यहाँ। वहाँ न मौत है न कुछ। मौत का निशान भी नहीं है।

सुभद्रा - अगर लड़ाई नहीं है, झगड़ा नहीं है, मुफ्त की तनख़्वाह ही खानी है, तब तो कोई बात नहीं है। अगर हो तो डयूटी आपकी यही करती है, या तो विजय, या मौत। दूसरा रास्ता नहीं आपके लिये।

जोरावर – वह तो वक्त आने की बात है। आज तो इसका कोई ज़िक्र ही नहीं है और मान लो मैं लड़ाई में काम आऊँ?…

सुभद्रा – उस वक्त मैं सर ऊंचा करके चलूँगी। हाँ, आप भाग आयेंगे उस वक्त मैं आपकी सूरत देखना गवारा नहीं कर सकती।

रात इस गपशप में बीती।

तब तक सुबह हो जाती है। और जाने का समय।

दरवाजे पर आदमी खड़े हैं और जाने की पूरी तैयारी है। जोरावर बार-बार अन्दर जाता है…. और बाहर निकलने का नाम भी नहीं लेता है।

सुभद्रा – समय हो गया, गाड़ी का समय हो गया।

जोरावर – ये कम्बखत तो जैसे यम के दूत की तरह सर पर सवार हो जाते हैं।उसी समय वह जाने को जब खड़ा होता है सुभद्रा स्वयं नमस्कार देती है और आशीर्वाद देती है, जाओ और विजयी होकर आओ!

जोरावर की आँखों में आंसू छलछला आये। बाहर माँ खड़ी, दही और चावल माथे से लगाते हुए बोली - जाओ बेटा, भगवान् तुम्हारा भला करे।

मुंह से जोरावर के कोई आवाज नहीं निकली और चुपके से चला गया।

एक महीना रहने के बाद जोरावर फिर आया। वहाँ कोशिश करके अपने भाई के लिए जगह दिलवाई। माँ से बोला - इसको भी जाने दो, बलवान को भी।

माँ - ले जाओ, बेटा, जाओ। बलवान तो तुम्हारे जाने के बाद ही से सोच रहा था। कई बार कहा था।

'मगर साहब मेरे काम से बड़े खुश हैं नहीं तो यह जगह किसी को देते थोड़े ही जल्दी।"

यह बात सुनकर सुभद्रा मुस्कराई। वह मुस्कराहट जैसे एक व्यङ्ग की थी।

जोरावर - तुम्हारी हँसने की ख़ास आदत है। शायद तुम मेरी बातों पर हँस रही हो।

सुभद्रा - मैं तुम्हारी बातों पर नहीं हँस रही, मैं तुम्हारी नादानी पर हँस रही हूँ।

'तुम मुझसे उम्र में कम हो, सुभद्रा। तुमको मेरी नादानी नहीं देखनी है।"

सुभद्रा - स्वारथ जो है आदमी में, वह आदमी को अन्धा बना देता है। मुझे उस अन्धेपन पर हँसी आ रही है।

जोरावर – तुम तो जैसे हम लोगों पर उधार खाये बैठी हो।

सुभद्रा - स्वारथ छोड़कर कोई बात करे, तो उसको सब साफ़ दिखाई देता है। स्वारथ लेकर जो कोई कुछ बात करता है तो वह उसकी अन्धा बना देता है। यह बात आपको मालूम नहीं है शायद।

उन्हीं के पास बलवान भी खड़ा था। भावज की ये बातें सुनकर बोला - भाभी, जो चीजें हम लोगों को मिली हैं वह आपको नहीं मिलीं, और जो चीजें आपको मिली हैं वह हमको नहीं मिलीं। आप लोगों का काम है भावुकता की सोचना और हिन्दी की चिन्दी निकालना। हम लोगों का बहादुरी का काम है। हम लोगों को लड़ना आता है और विजय करना आता है। न उस जगह हम कर्तव्य सोचने जाते हैं, न कर्म। जो ड्यूटी भैया को मिली है उसको आप देखें तो घबरा जायें। आप लोगों को घर में बैठे-बैठे हिन्दी की चिन्दी निकालना आता है।

सुभद्रा - जब करना तो कर लेना, दुनिया देख लेगी। कहने से लाभ ही क्या है!

बलवान - हाँ, हाँ, देख लीजियेगा।

सुभद्रा चुप।

'जिस रोज़ विजय करके आयेंगे, उस रोज मैं गर्व से फूल जाऊँगी।'

दोनों भाई दूसरे रोज वापस गये।

इन लोगों को गये तीन महीने भी नहीं होने पाये थे कि बर्मा में जापानियों के गोले गिरने लगे। लड़ाई के पहले ही मोर्चे पर जानेवाली फ़ौज में पहले बलवान गया। लड़ाई के वक़्त सिपाही जो गिरते हैं उनमें जिनके जिन्दा रहने की कुछ आशा है, उन्हें तो उठा करके ले जाते हैं, जिनको समझते हैं कि ये महीने दो महीने लेंगे उनको घोड़ों से और टापों से रौंद देते हैं।

बलवानसिंह गिरता है। ठीक निशाना लगता है। जोरावर दूर खड़ा है। दूर है, मगर जैसे ही उसे बलवान के गिरने का मालूम होता है, वैसे ही जोरावर बलवान की लाश के लिए लपकता है और उठाए हुए भागता है, कंधे पर लादकर। इधर देखता है न उधर देखता है। भागता है दरिया की तरफ़, जिसे कि पार करके

उसे जाना है। रात का समय।

माझी पूछता है - तू कौन है!

जोरावर - मैं हूँ कप्तान।

– क्या तुम फ़ौज से भाग रहे हो? क्या मौत के डर से भाग रहे हो! रात को पार करने का सरकारी हुक्म नहीं है।

जोरावर - मैं भाग नहीं रहा, माँझी। मेरी माँ की अमानत मेरा भाई था। वह लड़ाई में काम आया। उसी की लाश देने जा रहा हूँ।

माझी - सरकारी हुक्म लाओ। तुमको एकाएक करके यहाँ हुक्म नहीं है भागने का।

जोरावर - मैं भाग नहीं रहा। मुझे सिर्फ़ इसकी लाश को पहुँचा आना है।

माझी - जो अमानत थी, वह थी। लाश थोड़े ही अमानत है। लाश को लेकर तुम्हारी माँ क्या करेगी! ये जितने मरनेवाले मर रहे हैं, ये सभी तो अमानतें हैं। सभी तो माँ से पैदा होते हैं। बगैर माँ के कोई है! माताओं ने तो दे दिया, बेच दिया - चाँदी के टुकड़ों पर और कागज के चिन्हों पर। आज तुम लाश लिये जा रहे। कल तुम्हारी यही हालत हुई तो तुम्हारी लाश क्या मैं पहुँचाने जाऊँगा?

जोरावर - कुछ नहीं, मैं तुमसे आज आरज़ू करता हूँ। मैं कल सुबह आ जाऊँगा। मैं कभी आरज़ू नहीं करता। सिर्फ माँ की इस अमानत के लिए आरज़ू कर रहा हूँ। क्या तुम मेरी इतनी आरज़ू नहीं सुनोगे?

माझी - वादा करते हो, कल सुबह आ जाओगे?

जोरावर - हाँ, वादा करता हूँ मैं कल आ जाऊँगा।

– जाओ। चलो मैं किश्ती खोले देता हूँ।

माझी किश्ती खेलता है। पार उतारता है। जोरावर लाश लिए हुए 8 बजे दिन घर पहुँचा। माँ के सामने रख के - माँ यह तुम्हारी अमानत है।

माँ को उस समय रोना नहीं आया। बोली - एक दिन, बेटे, सबकी माओं की अमानतें वापिस आयेंगी। यह अमानत कहाँ। बलवान था, वीरगति पाई!

कहकर तो आया था जोरावर, कि मैं सुबह आ जाऊँगा मगर घर आने पर उसकी इच्छा नहीं हुई जाने की।

सुभद्रा से बोला - क्या करूं, मैं अपने वचन से झूठा बना। मुझे नरक मिले, स्वर्ग मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता हूँ। मगर हाँ एक मजबूरी है। मैं घर पर रहने नहीं पाऊँगा। आज तुम्हारे वह शब्द मेरे कान में गूँज रहे हैं जो तुमने कहे थे, कि सिपाही और कप्तान के लिये या तो विजय या मौत! इस लड़ाई की हालत देखकर, विजय तो हमको क्या मिलेगी, शायद मौत ही मिले।

सुभद्रा - विजय! विजय बड़ी मूल्यवान चीज है। अब यह देखना है कि उसका सेहरा किसके माथे पर बँधता है – मेरे या आपके माथे। यह आप क्यों सोचते हैं कि विजय का सेहरा आप ही लोगों के सर पर चढ़ेगा। अगर तुम मेरे प्रेम में पड़ करके छिपना चाहते हो, तो चलो, बहादुर की मौत तुम भी मरना, मैं भी मरूं!

ये शब्द सुभद्रा के, माँ के भी कान में पड़े – 'मैं तुम्हारे साथ चलूं!'

माँ – अरे बेटा, यह कायरों का काम है। आज यहाँ तू सरकारी नौकर है तो यह काम कर रहा है। कल दुश्मन चढ़ आये तो क्या हमारी लोगों की इज्जत बाक़ी रह जायेगी? आज तो एक सरकार है सर पर। उसके रुपये देने से तुम सब काम करने गये। अगर हमारी सरकार होती तो तुम सब के सब बगैर रुपये के, बगैर सहारे के, अपने-अपने घर से निकलते। और कोई समय आयेगा जब तुम अपने-अपने घर से निकलोगे। छिपने का नाम भी सुनके मुझे हँसी मालूम होती है।

जोरावर – माँ, कैसी बात करती हो! एक की लाश देखकर के भी तुम्हें अभी तस्कीन नहीं हुई। वहाँ, माँ, लाशों को तुम देखो तो पता चले। वहाँ लाशों से बच के निकलना मुश्किल है।

माँ – मैं..., ख़ैर, यह लड़ाई तो मैंने देख ली। मगर कहो तो मैं चलूं। मैं और बहू दोनों चलें। ये शैतान जर्मनी और जापान अगर मुल्क में आ जायेंगे, तुम समझते हो, तुम्हारी बहू-बेटियों की ख़ैरियत है! उस वक़्त तुम्हें जो तकलीफ़ होगी अपनी हालत देखकर और हम लोगों की दुर्दशा, तो क्या उससे भी मौत मुश्किल है? फिर मैं तुम्हें आज अपने आँचल के नीचे, गोदी के नीचे, छिपा लूँ? वह माताओं के लाल नहीं हैं?

माँ की फटकार से और सुभद्रा की लताड़ से जोरावर के बल आया।

सुभद्रा नहीं मानी, साथ में गई। दोनों साथ-साथ चले जाते हैं, गुमसुम, न कोई किसी से बोलता है न चालता है। जैसे अपरिचित हों कोई। जब दरिया के किनारे पहुँचे, माझी ने पूछा–कप्तान साहब, आप आ गये! उस समय जोरावर के दिल में महान् शक्ति आई। जैसे सोये से कोई जागा हो।

माझी – यह तुम्हारे साथ स्त्री कौन है?

जोरावर - यह मेरी स्त्री है।

–यह गुलाब का ऐसा फूल क्यों लाये? यहाँ तो नरसंहार है।

सुभद्रा – नरसंहार है तो क्या यहाँ कोई घबरानेवाला है। फूल अगर फूला है तो कुम्हलाने ही के लिए तो। आदमी ने अगर जन्म लिया है तो मरने ही के लिए तो। कुत्तों की मौत से बहादुरों की तरह मरना फिर भी अच्छा है।

इतना कहते हुए सुभद्रा मुस्करा उठी। सुभद्रा की उस हँसी में व्यंग की हँसी नहीं थी, बल्कि कर्तव्य की हँसी थी;—'शायद मैं भी कुछ करके जाऊँ।'

जब पार आये, कप्तान अपने ख़ेमे में गया। सुभद्रा साथ में। जब वह मैदान में गया, जोरावर सिंह–सुभद्रा भी उसी के कपड़े पहनकर उसके पीछे साथ में गई। चार रोज तक, जब जाता था तब वह साथ में रहती थी।

पाँचवे रोज जोरावर सिंह की बारी थी, सुभद्रा ने गिरते देखा। सुभद्रा ने झुककर लाश उठाई। अपने ख़ेमे में ले जाकर वहाँ उसे चूमा। लाश थी निर्जीव। उस समय उसके मुंह से निकला– हाँ, तुम विजयी हो! तुमने वादा पूरा किया। अभी थोड़ी देर में मेरी भी तो यही हालत होगी।

उसी माझी के पास गई।

— माझी! यह मेरी लाश है। पता देती हूँ। माँजी को दे आओ! उनकी अमानत थी।

– रामधारी सिंह दिनकर

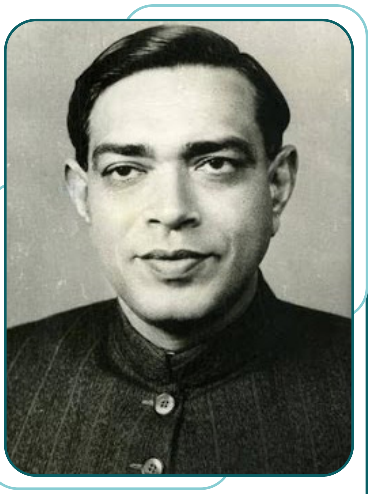

किसको नमन करूँ मैं भारत?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ, मैं ?
मेरे प्यारे देश ! देह या मन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ? किसको नमन करूँ मैं ?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है ?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है ?
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है
मेरे प्यारे देश ! नहीं तू पत्थर है, पानी है
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं ?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्कर है
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वंदन को नमन करूँ मैं !

खंडित है यह मही शैल से, सरिता से सागर से
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपांतर से
तब खाई को पाट शून्य में महामोद मचता है
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है
मंगलमय यह महासेतु-बंधन को नमन करूँ मैं !

दो हृदय के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे हैं
मित्र-भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे हैं
घोल रहे हैं जो जीवन-सरिता में प्रेम-रसायन
खोर रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन
आत्मबंधु कहकर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मैं !

उठे जहाँ भी घोष शांति का, भारत, स्वर तेरा है
धर्म-दीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने आता है
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है
मानवता के इस ललाट-वंदन को नमन करूँ मैं !

कलम, आज उनकी जय बोल

जला अस्थियां बारी-बारी,
चटकाई जिनमें चिंगारी,
जो चढ़ गये पुण्यवेदी पर,
लिए बिना गर्दन का मोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

जो अगणित लघु दीप हमारे,
तूफ़ानों में एक किनारे,
जल-जलाकर बुझ गए किसी दिन,
मांगा नहीं स्नेह मुंह खोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

पीकर जिनकी लाल शिखाएं,
उगल रही सौ लपट दिशाएं,
जिनके सिंहनाद से सहमी,
धरती रही अभी तक डोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

अंधा चकाचौंध का मारा,
क्या जाने इतिहास बेचारा,
साखी हैं उनकी महिमा के,
सूर्य चन्द्र भूगोल खगोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

कलम या कि तलवार

दो में से क्या तुम्हे चाहिए कलम या कि तलवार
मन में ऊँचे भाव कि तन में शक्ति विजय अपार

अंध कक्ष में बैठ रचोगे ऊँचे मीठे गान
या तलवार पकड़ जीतोगे बाहर का मैदान

कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगाने वाली,
दिल की नहीं दिमागों में भी आग लगाने वाली

पैदा करती कलम विचारों के जलते अंगारे,
और प्रज्वलित प्राण देश क्या कभी मरेगा मारे

एक भेद है और वहां निर्भय होते नर-नारी,
कलम उगलती आग, जहाँ अक्षर बनते चिंगारी

जहाँ मनुष्यों के भीतर हरदम जलते हैं शोले,
बादल में बिजली होती, होते दिमाग में गोले

जहाँ पालते लोग लहू में हालाहल की धार,
क्या चिंता यदि वहाँ हाथ में नहीं हुई तलवार

लोहे के पेड़ हरे होंगे

तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी ज़रूर,
आँसू के कण बरसाता चल।
सिसकियों और चीत्कारों से,
जितना भी हो आकाश भरा,
कंकालों क हो ढेर,
खप्परों से चाहे हो पटी धरा ।
आशा के स्वर का भार,
पवन को लेकिन, लेना ही होगा,
जीवित सपनों के लिए मार्ग
मुर्दों को देना ही होगा।
रंगो के सातों घट उँड़ेल,
यह अँधियारी रँग जायेगी,
ऊषा को सत्य बनाने को
जावक नभ पर छितराता चल।
आदर्शों से आदर्श भिड़े,
प्रज्ञा प्रज्ञा पर टूट रही।
प्रतिमा प्रतिमा से लड़ती है,
धरती की किस्मत फूट रही।
आवर्तों का है विषम जाल,
निरुपाय बुद्धि चकराती है,
विज्ञान-यान पर चढी हुई
सभ्यता डूबने जाती है।
जब-जब मस्तिष्क जयी होता,
संसार ज्ञान से चलता है,
शीतलता की है राह हृदय,
तू यह संवाद सुनाता चल।
सूरज है जग का बुझा-बुझा,
चन्द्रमा मलिन-सा लगता है,
सब की कोशिश बेकार हुई,
आलोक न इनका जगता है,
इन मलिन ग्रहों के प्राणों में
कोई नवीन आभा भर दे,
जादूगर! अपने दर्पण पर
घिसकर इनको ताजा कर दे।
दीपक के जलते प्राण,
दिवाली तभी सुहावन होती है,
रोशनी जगत् को देने को
अपनी अस्थियाँ जलाता चल।
क्या उन्हें देख विस्मित होना,
जो हैं अलमस्त बहारों में,
फूलों को जो हैं गूँथ रहे
सोने-चाँदी के तारों में।
मानवता का तू विप्र!
गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र! तू तो केवल
जलने भर का अधिकारी है।
ले बड़ी खुशी से उठा,
सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में रचकर फूल,
मगर उस का भी मोल चुकाता चल।
काया की कितनी धूम-धाम!
दो रोज चमक बुझ जाती है;
छाया पीती पीयुष,
मृत्यु के उपर ध्वजा उड़ाती है ।
लेने दे जग को उसे,
ताल पर जो कलहंस मचलता है,
तेरा मराल जल के दर्पण
में नीचे-नीचे चलता है।
कनकाभ धूल झर जाएगी,
वे रंग कभी उड़ जाएँगे,
सौरभ है केवल सार, उसे
तू सब के लिए जुगाता चल।
क्या अपनी उन से होड़,
अमरता की जिनको पहचान नहीं,
छाया से परिचय नहीं,
गन्ध के जग का जिन को ज्ञान नहीं?
जो चतुर चाँद का रस निचोड़
प्यालों में ढाला करते हैं,
भट्ठियाँ चढाकर फूलों से
जो इत्र निकाला करते हैं।
ये भी जाएँगे कभी, मगर,
आधी मनुष्यतावालों पर,
जैसे मुसकाता आया है,
वैसे अब भी मुसकाता चल।
सभ्यता-अंग पर क्षत कराल,
यह अर्थ-मानवों का बल है,
हम रोकर भरते उसे,
हमारी आँखों में गंगाजल है।
शूली पर चढ़ा मसीहा को
वे फूल नहीं समाते हैं
हम शव को जीवित करने को
छायापुर में ले जाते हैं।
भींगी चाँदनियों में जीता,
जो कठिन धूप में मरता है,
उजियाली से पीड़ित नर के
मन में गोधूलि बसाता चल।
यह देख नयी लीला उनकी,
फिर उनने बड़ा कमाल किया,
गाँधी के लोहू से सारे,
भारत-सागर को लाल किया।
जो उठे राम, जो उठे कृष्ण,
भारत की मिट्टी रोती है,
क्या हुआ कि प्यारे गाँधी की
यह लाश न जिन्दा होती है?
तलवार मारती जिन्हें,
बाँसुरी उन्हें नया जीवन देती,
जीवनी-शक्ति के अभिमानी!
यह भी कमाल दिखलाता चल।
धरती के भाग हरे होंगे,
भारती अमृत बरसाएगी,
दिन की कराल दाहकता पर
चाँदनी सुशीतल छाएगी।
ज्वालामुखियों के कण्ठों में
कलकण्ठी का आसन होगा,
जलदों से लदा गगन होगा,
फूलों से भरा भुवन होगा।
बेजान, यन्त्र-विरचित गूँगी,
मूर्त्तियाँ एक दिन बोलेंगी,
मुँह खोल-खोल सब के भीतर
शिल्पी! तू जीभ बिठाता चल।

– रामधारी सिंह दिनकर

– मैथिलीशरण गुप्त

नर हो न निराश करो मन को

नर हो, न निराश करो मन को
कुछ काम करो, कुछ काम करो
जग में रह कर कुछ नाम करो
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो
समझो जिसमें यह व्यर्थ न हो
कुछ तो उपयुक्त करो तन को
नर हो, न निराश करो मन को

सँभलो कि सुयोग न जाए चला
कब व्यर्थ हुआ सदुपाय भला
समझो जग को न निरा सपना
पथ आप प्रशस्त करो अपना
अखिलेश्वर है अवलंबन को
नर हो, न निराश करो मन को

जब प्राप्त तुम्हें सब तत्त्व यहाँ
फिर जा सकता वह सत्त्व कहाँ
तुम स्वत्त्व सुधा रस पान करो
उठके अमरत्व विधान करो
दवरूप रहो भव कानन को
नर हो न निराश करो मन को

निज गौरव का नित ज्ञान रहे
हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे
मरणोत्तैर गुंजित गान रहे
सब जाए अभी पर मान रहे
कुछ हो न तजो निज साधन को
नर हो, न निराश करो मन को

प्रभु ने तुमको दान किए
सब वांछित वस्तु विधान किए
तुम प्राप्तस करो उनको न अहो
फिर है यह किसका दोष कहो
समझो न अलभ्य किसी धन को
नर हो, न निराश करो मन को

किस गौरव के तुम योग्य नहीं
कब कौन तुम्हें सुख भोग्य नहीं
जान हो तुम भी जगदीश्वर के
सब है जिसके अपने घर के
फिर दुर्लभ क्या उसके जन को
नर हो, न निराश करो मन को

करके विधि वाद न खेद करो
निज लक्ष्य निरंतर भेद करो
बनता बस उद्‌यम ही विधि है
मिलती जिससे सुख की निधि है
समझो धिक् निष्क्रिय जीवन को
नर हो, न निराश करो मन को
कुछ काम करो, कुछ काम करो

नहुष का पतन

मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषियान में
व्याकुल से देव चले साथ में, विमान में
पिछड़े तो वाहक विशेषता से भार की
अरोही अधीर हुआ प्रेरणा से मार की
दिखता है मुझे तो कठिन मार्ग कटना
अगर ये बढ़ना है तो कहूँ मैं किसे हटना?
बस क्या यही है बस बैठ विधियाँ गढ़ो?
अश्व से अडो ना अरे, कुछ तो बढ़ो, कुछ तो बढ़ो
बार बार कन्धे फेरने को ऋषि अटके
आतुर हो राजा ने सरौष पैर पटके
क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जा लगा
सातों ऋषियों में महा क्षोभानल आ जगा
भार बहे, बातें सुने, लातें भी सहे क्या हम
तु ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम
पैर था या सांप यह, डस गया संग ही
पमर पतित हो तु होकर भुंजग ही
राजा हतेज हुआ शाप सुनते ही काँप
मानो डस गया हो उसे जैसे पिना साँप
श्वास टुटने-सी मुख-मुद्रा हुई विकला
"हा ! ये हुआ क्या?" यही व्यग्र वाक्य निकला
जड़-सा सचिन्त वह नीचा सर करके
पालकी का नाल डूबते का तृण धरके
शून्य-पट-चित्र धुलता हुआ सा दृष्टि से
देखा फिर उसने समक्ष शून्य दृष्टि से
दीख पड़ा उसको न जाने क्या समीप सा
चौंका एक साथ वह बुझता प्रदीप-सा -
"संकट तो संकट, परन्तु यह भय क्या ?
दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या ?"
सँभला अद्मय मानी वह खींचकर ढीले
अंग -
"कुछ नहीं स्वप्न था सो हो गया भला
ही भंग.
कठिन कठोर सत्य तो भी शिरोधार्य है
शांत हो महर्षि मुझे, सांप अंगीकार्य है"
दुख में भी राजा मुसकराया पूर्व दर्प से
मानते हो तुम अपने को डसा सर्प से
होते ही परन्तु पद स्पर्श भुल चुक से
मैं भी क्या डसा नहीं गया हुँ दन्डशूक से
मानता हुँ भुल हुई, खेद मुझे इसका
सौंपे वही कार्य, उसे धार्य हो जो जिसका
स्वर्ग से पतन, किन्तु गोत्रीणी की गोद में
और जिस जोन में जो, सो उसी में मोद में

काल गतिशील मुझे लेके नहीं बेठैगा
किन्तु उस जीवन में विष घुस पैठेगा
फिर भी खोजने का कुछ रास्ता तो उठायेगें
विष में भी अमर्त छुपा वे कृति पायेगें
मानता हुँ भुल गया नारद का कहना
दैत्यों से बचाये भोग धाम रहना
आप घुसा असुर हाय मेरे ही ह्रदय में
मानता हुँ आप लज्जा पाप अविनय में
मानता हुँ आड ही ली मेने स्वाधिकार की
मुल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की

माँगता हुँ आज में शची से भी खुली क्षमा
विधि से बहिर्गता में भी साधवी वह ज्यों रमा
मानता हुँ और सब हार नहीं मानता
अपनी अगाति आज भी मैं जानता
आज मेरा भुक्त्योजित हो गया है स्वर्ग भी
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी
तन जिसका हो मन और आत्मा मेरा है
चिन्ता नहीं बाहर उजेला या अँधेरा है
चलना मुझे है बस अंत तक चलना
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी
मैं ही तो उठा था आप गिरता हुँ जो अभी
फिर भी ऊठूँगा और बढ़के रहुँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ, चढ़ के रहुँगा मैं
चाहे जहाँ मेरे उठने के लिये ठौर है
किन्तु लिया भार आज मेने कुछ और है
उठना मुझे ही नहीं बस एक मात्र रीते हाथ
मेरा देवता भी और ऊंचा उठे मेरे साथ

जो बीत गई सो बात गई

– हरिवंश राय बच्चन

जीवन में एक सितारा था
माना वह बेहद प्यारा था
वह डूब गया तो डूब गया
अम्बर के आनन को देखो
कितने इसके तारे टूटे
कितने इसके प्यारे छूटे
जो छूट गए फिर कहाँ मिले
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है
जो बीत गई सो बात गई

जीवन में वह था एक कुसुम
थे उसपर नित्य निछावर तुम
वह सूख गया तो सूख गया
मधुवन की छाती को देखो
सूखी कितनी इसकी कलियाँ
मुर्झाई कितनी वल्लरियाँ
जो मुर्झाई फिर कहाँ खिली
पर बोलो सूखे फूलों पर
कब मधुवन शोर मचाता है
जो बीत गई सो बात गई

जीवन में मधु का प्याला था
तुमने तन मन दे डाला था
वह टूट गया तो टूट गया
मदिरालय का आँगन देखो
कितने प्याले हिल जाते हैं
गिर मिट्टी में मिल जाते हैं
जो गिरते हैं कब उठतें हैं
पर बोलो टूटे प्यालों पर
कब मदिरालय पछताता है
जो बीत गई सो बात गई

मृदु मिटटी के हैं बने हुए
मधु घट फूटा ही करते हैं
लघु जीवन लेकर आए हैं
प्याले टूटा ही करते हैं
फिर भी मदिरालय के अन्दर
मधु के घट हैं मधु प्याले हैं
जो मादकता के मारे हैं
वे मधु लूटा ही करते हैं
वह कच्चा पीने वाला है
जिसकी ममता घट प्यालों पर
जो सच्चे मधु से जला हुआ
कब रोता है चिल्लाता है
जो बीत गई सो बात गई

है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

कल्पना के हाथ से कमनीय जो मंदिर बना था
भावना के हाथ ने जिसमें वितानों को तना था

स्वप्न ने अपने करों से था जिसे रुचि से सँवारा
स्वर्ग के दुष्प्राप्य रंगों से, रसों से जो सना था
ढह गया वह तो जुटाकर ईंट, पत्थर, कंकड़ों को
एक अपनी शांति की कुटिया बनाना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

बादलों के अश्रु से धोया गया नभ-नील नीलम
का बनाया था गया मधुपात्र मनमोहक, मनोरम
प्रथम ऊषा की किरण की लालिमा-सी लाल मदिरा
थी उसी में चमचमाती नव घनों में चंचला सम
वह अगर टूटा मिलाकर हाथ की दोनों हथेली
एक निर्मल स्रोत से तृष्णा बुझाना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

क्या घड़ी थी, एक भी चिंता नहीं थी पास आई
कालिमा तो दूर, छाया भी पलक पर थी न छाई
आँख से मस्ती झपकती, बात से मस्ती टपकती
थी हँसी ऐसी जिसे सुन बादलों ने शर्म खाई
वह गई तो ले गई उल्लास के आधार, माना
पर अथिरता पर समय की मुसकराना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

हाय, वे उन्माद के झोंके कि जिनमें राग जागा
वैभवों से फेर आँखें गान का वरदान माँगा
एक अंतर से ध्वनित हों दूसरे में जो निरंतर
भर दिया अंबर-अवनि को मत्तता के गीत गा-गा
अंत उनका हो गया तो मन बहलने के लिए ही
ले अधूरी पंक्ति कोई गुनगुनाना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

हाय, वे साथी कि चुंबक लौह-से जो पास आए
पास क्या आए, हृदय के बीच ही गोया समाए
दिन कटे ऐसे कि कोई तार वीणा के मिलाकर
एक मीठा और प्यारा ज़िन्दगी का गीत गाए
वे गए तो सोचकर यह लौटने वाले नहीं वे
खोज मन का मीत कोई लौ लगाना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है

क्या हवाएँ थीं कि उजड़ा प्यार का वह आशियाना
कुछ न आया काम तेरा शोर करना, गुल मचाना
नाश की उन शक्तियों के साथ चलता ज़ोर किसका
किंतु ऐ निर्माण के प्रतिनिधि, तुझे होगा बताना
जो बसे हैं वे उजड़ते हैं प्रकृति के जड़ नियम से
पर किसी उजड़े हुए को फिर बसाना कब मना है
है अँधेरी रात पर दीया जलाना कब मना है।

– हरिवंश राय बच्चन

हम पंछी उन्मुक्त गगन के

हम पंछी उन्मुक्त गगन के
पिंजरबद्ध न गा पाएँगे,
कनक-तीलियों से टकराकर
पुलकित पंख टूट जाऍंगे।

हम बहता जल पीनेवाले
मर जाएँगे भूखे-प्यासे,
कहीं भली है कटुक निबोरी
कनक-कटोरी की मैदा से,

स्वर्ण-श्रृंखला के बंधन में
अपनी गति, उड़ान सब भूले,
बस सपनों में देख रहे हैं
तरू की फुनगी पर के झूले।

ऐसे थे अरमान कि उड़ते
नील गगन की सीमा पाने,
लाल किरण-सी चोंचखोल
चुगते तारक-अनार के दाने।

होती सीमाहीन क्षितिज से
इन पंखों की होड़ा-होड़ी,
या तो क्षितिज मिलन बन जाता
या तनती साँसों की डोरी।

नीड़ न दो, चाहे टहनी का
आश्रय छिन्न-भिन्न कर डालो,
लेकिन पंख दिए हैं, तो
आकुल उड़ान में विघ्न न डालो।

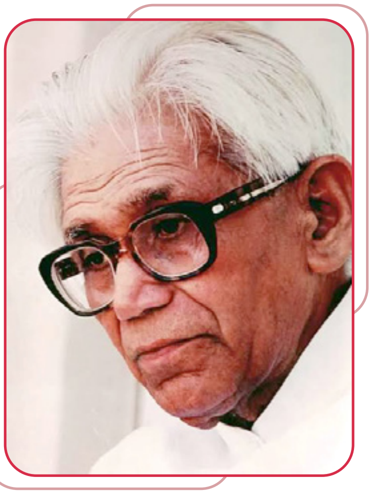

– शिवमंगल सिंह सुमन

मेरा देश बड़ा गर्वीला

— गोपाल सिंह नेपाली

मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली
नीले नभ में बादल काले, हरियाली में सरसों पीली

यमुना-तीर, घाट गंगा के, तीर्थ-तीर्थ में बाट छाँव की
सदियों से चल रहे अनूठे, ठाठ गाँव के, हाट गाँव की

शहरों को गोदी में लेकर, चली गाँव की डगर नुकीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली

खडी-खड़ी फुलवारी फूले, हार पिरोए बैठ गुजरिया
बरसाए जलधार बदरिया, भीगे जग की हरी चदरिया

तृण पर शबनम, तरु पर जुगनू, नीड़ रचाए तीली-तीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली

घास-फूस की खड़ी झोपड़ी, लाज सम्भाले जीवन-भर की
कुटिया में मिट्टी के दीपक, मंदिर में प्रतिमा पत्थर की

जहाँ वास कँकड़ में हरि का, वहाँ नहीं चाँदी चमकीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली

जो कमला के चरण पखारे, होता है वह कमल-कीच में
तृण, तंदुल, ताम्बूल, ताम्र, तिल के दीपक बीच-बीच में

सीधी-सदी पूजा अपनी, भक्ति लजीली मूर्ति सजीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतुरंग-रंगीली

बरस-बरस पर आती होली, रंगों का त्यौहार अनोखा
चुनरी इधर-उधर पिचकारी, गाल-भाल पर कुमकुम फूटा

लाल-लाल बन जाए काले, गोरी सूरत पीली-नीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतुरंग-रंगीली

दिवाली -- दीपों का मेला, झिलमिल महल-कुटी-गलियारे
भारत-भर में उतने दीपक, जितने जलते नभ में तारे

सारी रात पटाखे छोडे, नटखट बालक उम्र हठीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतुरंग-रंगीली

खंडहर में इतिहास सुरक्षित, नगर-नगर में नई रौशनी
आए-गए हुए परदेशी, यहाँ अभी भी वही चाँदनी

अपना बना हजम कर लेती, चाल यहाँ की ढीली-ढीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतुरंग-रंगीली

मन में राम, बाल में गीता, घर-घर आदर रामायण का
किसी वंश का कोई मानव, अंश साझते नारायण का

ऐसे हैं बहरत के वासी, गात गठीला, बाट चुटीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतुरंग-रंगीली

आन कठिन भारत की लेकिन, नर-नारी का सरल देश है
देश और भी हैं दुनिया में, पर गाँधी का यही देश है

जहाँ राम की जय जग बोला, बजी श्याम की वेणु सुरीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली

लो गंगा-यमुना-सरस्वती या लो मंदिर-मस्जिद-गिरजा
ब्रह्मा-विष्णु-महेश भजो या जीवन-मरण-मोक्ष की चर्चा

सबका यहीं त्रिवेणी-संगम, ज्ञान गहनतम, कला रसीली
मेरा देश बड़ा गर्वीला, रीति-रसम-ऋतु-रंग-रंगीली

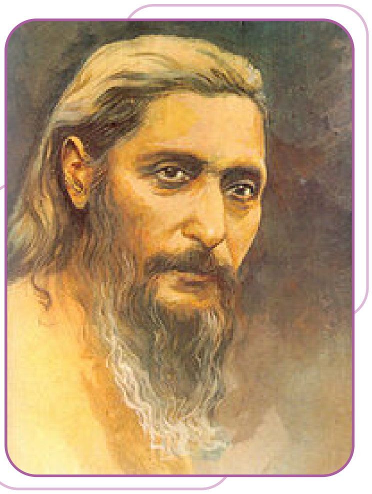

– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

भारति जय विजय करे

भारति, जय, विजय करे!
कनक-शस्य-कमल धरे!
लंका पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।
तरु-तृण-वन-लता वसन,
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव-मुखरे!

मातृ वंदना

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
मेरे श्रम सिंचित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़कर
सदा मृत्यु पथ पर बढ़ कर
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रु जल धौत विमल
दृग जल से पा बल बलि कर दूँ
जननि, जन्म श्रम संचित पल।

बाधाएँ आएँ तन पर
देखूँ तुझे नयन मन भर
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर;
क्लेद युक्त, अपना तन दूंगा
मुक्त करूंगा तुझे अटल
तेरे चरणों पर दे कर बलि
सकल श्रेय श्रम संचित फल

किसको नमन करूँ मैं भारत?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ, मैं ?
मेरे प्यारे देश ! देह या मन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ? किसको नमन करूँ मैं ?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है ?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है ?
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है
मेरे प्यारे देश ! नहीं तू पत्थर है, पानी है
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं ?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्कर है
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वंदन को नमन करूँ मैं !

खंडित है यह मही शैल से, सरिता से सागर से
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपांतर से
तब खाई को पाट शून्य में महामोद मचता है
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है
मंगलमय यह महासेतु-बंधन को नमन करूँ मैं !

दो हृदय के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे हैं
मित्र-भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे हैं
घोल रहे हैं जो जीवन-सरिता में प्रेम-रसायन
खोर रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन
आत्मबंधु कहकर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मैं !

उठे जहाँ भी घोष शांति का, भारत, स्वर तेरा है
धर्म-दीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने आता है
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है
मानवता के इस ललाट-वंदन को नमन करूँ मैं !

– रामधारी सिंह दिनकर

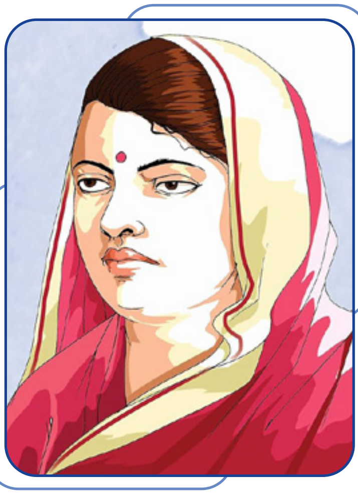

झांसी की रानी

– सुभद्रा कुमारी चौहान

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।

चमक उठी सन सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

कानपूर के नाना की, मुँहबोली बहन छबीली थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह संतान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह, नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी।

वीर शिवाजी की गाथायें उसको याद ज़बानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार,
नकली युद्ध-व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवाड़।

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुघट बुंदेलों की विरुदावलि-सी वह आई थी झांसी में।

चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव को मिली भवानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छाई,
किंतु कालगति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाई,
रानी विधवा हुई, हाय! विधि को भी नहीं दया आई।

निसंतान मरे राजाजी रानी शोक-समानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौज़ी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फ़ौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया।

अश्रुपूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई बिरानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय विनय नहीं सुनती है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौज़ी ने पैर पसारे, अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया।

रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महरानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी दिल्ली की, लखनऊ छीना बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपुर, तंजौर, सतारा,कर्नाटक की कौन बिसात?
जब कि सिंध, पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात।

बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोईं रनिवासों में, बेगम ग़म से थीं बेज़ार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
'नागपुर के ज़ेवर ले लो लखनऊ के लो नौलख हार'।

यों परदे की इज़्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों में भी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुंधूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रण-चण्डी का कर दिया प्रकट आहवान।

हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतंत्रता की चिनगारी अंतरतम से आई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थी,
मेरठ, कानपुर,पटना ने भारी धूम मचाई थी,

जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इस स्वतंत्रता महायज्ञ में कई वीरवर आए काम,
नाना धुंधूपंत, ताँतिया, चतुर अज़ीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम।

लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुरबानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

इनकी गाथा छोड़, चले हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वाकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुया द्वंद असमानों में।

ज़ख्मी होकर वाकर भागा, उसे अजब हैरानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

रानी बढ़ी कालपी आई, कर सौ मील निरंतर पार,
घोड़ा थक कर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अंग्रेज़ों ने फिर खाई रानी से हार,
विजई रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार।

अंग्रेज़ों के मित्र सिंधिया ने छोड़ी राजधानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

विजय मिली, पर अंग्रेज़ों की फिर सेना घिर आई थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुहँ की खाई थी,
काना और मंदरा सखियाँ रानी के संग आई थी,
युद्ध श्रेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी।

पर पीछे ह्यूरोज़ आ गया, हाय! घिरी अब रानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

तो भी रानी मार काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था वह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार-पर-वार।

घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

रानी गई सिधार चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतंत्रता-नारी थी,

दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनासी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी।

तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

– सुभद्रा कुमारी चौहान

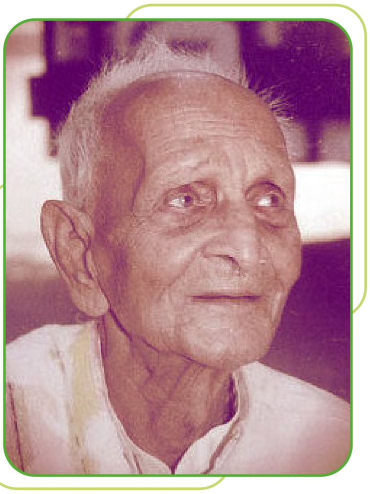

– केदारनाथ अग्रवाल

बसंती हवा हूँ

हवा हूँ, हवा मैं
बसंती हवा हूँ।

सुनो बात मेरी -
अनोखी हवा हूँ।
बड़ी बावली हूँ,
बड़ी मस्तमौला।
नहीं कुछ फिकर है,
बड़ी ही निडर हूँ।
जिधर चाहती हूँ,
उधर घूमती हूँ,
मुसाफिर अजब हूँ।

न घर-बार मेरा,
न उद्देश्य मेरा,
न इच्छा किसी की,
न आशा किसी की,
न प्रेमी न दुश्मन,
जिधर चाहती हूँ
उधर घूमती हूँ।
हवा हूँ, हवा मैं
बसंती हवा हूँ!

जहाँ से चली मैं
जहाँ को गई मैं -
शहर, गाँव, बस्ती,
नदी, रेत, निर्जन,
हरे खेत, पोखर,
झुलाती चली मैं।
झुमाती चली मैं!
हवा हूँ, हवा मै
बसंती हवा हूँ।

चढ़ी पेड़ महुआ,
थपाथप मचाया;
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में 'कू',
उतरकर भगी मैं,
हरे खेत पहुँची -
वहाँ, गेंहुँओं में
लहर खूब मारी।

पहर दो पहर क्या,
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं!
खड़ी देख अलसी
लिए शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी -
हिलाया-झुलाया
गिरी पर न कलसी!
इसी हार को पा,
हिलाई न सरसों,
झुलाई न सरसों,
हवा हूँ, हवा मैं
बसंती हवा हूँ!

मुझे देखते ही
अरहरी लजाई,
मनाया-बनाया,
न मानी, न मानी;
उसे भी न छोड़ा -
पथिक आ रहा था,
उसी पर ढकेला;
हँसी ज़ोर से मैं,
हँसी सब दिशाएँ,
हँसे लहलहाते
हरे खेत सारे,
हँसी चमचमाती
भरी धूप प्यारी;
बसंती हवा में
हँसी सृष्टि सारी!
हवा हूँ, हवा मैं
बसंती हवा हूँ!

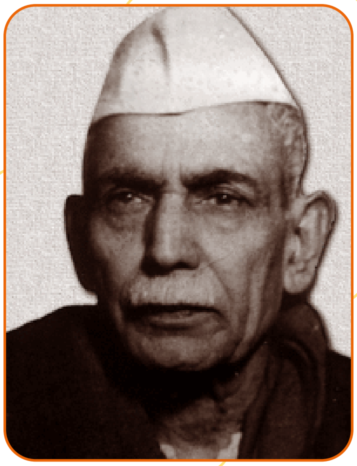

– माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध
प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर
हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक!
मातृ-भूमि पर शीश- चढ़ाने,
जिस पथ पर जावें वीर अनेक!

प्यारे भारत देश

प्यारे भारत देश
गगन-गगन तेरा यश फहरा
पवन-पवन तेरा बल गहरा
क्षिति-जल-नभ पर डाल हिंडोले
चरण-चरण संचरण सुनहरा
ओ ऋषियों के त्वेष
प्यारे भारत देश।।

वेदों से बलिदानों तक जो होड़ लगी
प्रथम प्रभात किरण से हिम में जोत जागी
उतर पड़ी गंगा खेतों खलिहानों तक
मानो आँसू आये बलि-महमानों तक
सुख कर जग के क्लेश
प्यारे भारत देश।।

तेरे पर्वत शिखर कि नभ को भू के मौन इशारे
तेरे वन जग उठे पवन से हरित इरादे प्यारे!
राम-कृष्ण के लीलालय में उठे बुद्ध की वाणी
काबा से कैलाश तलक उमड़ी कविता कल्याणी
बातें करे दिनेश
प्यारे भारत देश।।

जपी-तपी, संन्यासी, कर्षक कृष्ण रंग में डूबे
हम सब एक, अनेक रूप में, क्या उभरे क्या ऊबे
सजग एशिया की सीमा में रहता केद नहीं
काले गोरे रंग-बिरंगे हममें भेद नहीं
श्रम के भाग्य निवेश
प्यारे भारत देश।।

वह बज उठी बासुँरी यमुना तट से धीरे-धीरे
उठ आई यह भरत-मेदिनी, शीतल मन्द समीरे
बोल रहा इतिहास, देश सोये रहस्य है खोल रहा
जय प्रयत्न, जिन पर आन्दोलित-जग हँस-हँस जय बोल रहा,
जय-जय अमित अशेष
प्यारे भारत देश।।

सतपुड़ा के घने जंगल

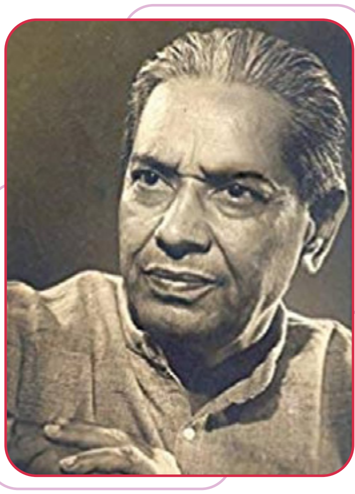

– भवानी प्रसाद मिश्र

सतपुड़ा के जंगल
सतपुड़ा के घने जंगल
नींद मे डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल।

झाड़ ऊँचे और नीचे,
चुप खड़े हैं आँख मीचे,
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसो इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल।

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य पथ को ढँक रहे-से
पंक-दल मे पले पत्ते।
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इनको दल सको तो,
ये घिनोने, घने जंगल
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।

अटपटी-उलझी लताएँ,
डालियों को खींच खाएँ,
पैर को पकड़ें अचानक,
प्राण को कस लें कपाऐं।

सांप सी काली लताऐं
बला की पाली लताऐं
लताओं के बने जंगल
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।

मकड़ियों के जाल मुँह पर,
और सर के बाल मुँह पर
मच्छरों के दंश वाले,
दाग काले-लाल मुँह पर,
वात- झन्झा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,
कष्ट से ये सने जंगल,
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।

अजगरों से भरे जंगल।
अगम, गति से परे जंगल
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कम्प से कनकने जंगल,
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।

इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजनवन के बीच बैठे,
झोंपडी पर फूंस डाले
गोंड तगड़े और काले;

जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती,
मत्त करती बास आती,
गूंज उठते ढोल इनके,
गीत इनके, गोल इनके

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।

जागते अँगड़ाइयों में,
खोह-खड्डों खाइयों में,
घास पागल, कास पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल
मत्त मुर्गे और तीतर,
इन वनों के खूब भीतर!
क्षितिज तक फ़ैला हुआ-सा,
मृत्यु तक मैला हुआ-सा,
क्षुब्ध, काली लहर वाला
मथित, उत्थित जहर वाला,
मेरु वाला, शेष वाला
शम्भु और सुरेश वाला
एक सागर जानते हो,
उसे कैसा मानते हो?
ठीक वैसे घने जंगल,
नींद मे डूबे हुए से
ऊँघते अनमने जंगल।
धँसो इनमें डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,

उतर कर बहते अनेकों,
कल-कथा कहते अनेकों,
नदी, निर्झर और नाले,
इन वनों ने गोद पाले।
लाख पंछी सौ हिरन-दल,
चाँद के कितने किरन दल,
झूमते बन-फ़ूल, फ़लियाँ,
खिल रहीं अज्ञात कलियाँ,
हरित दूर्वा, रक्त किसलय,
पूत, पावन, पूर्ण रसमय
सतपुड़ा के घने जंगल,
लताओं के बने जंगल।

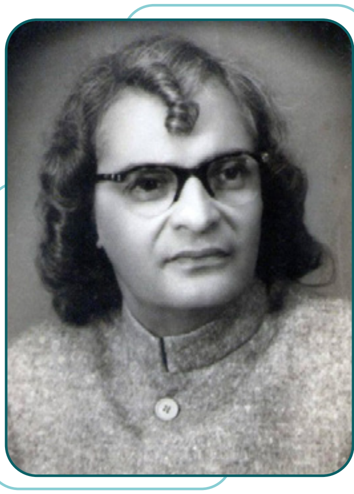

– सुमित्रानंदन पंत

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सन्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।
व्यर्थ सकल इतिहासों, विज्ञानों का सागर मंथन,
वहाँ नहीं युग लक्ष्मी, जीवन सुधा, इंदु जन मोहन!

आज वृहत सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित,
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

जग जीवन के अंतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।
वाह्य चेतनाओं में उसके क्षोभ, क्रांति, उत्पीड़न,
विगत सभ्यता दंत शून्य फणि सी करती युग नर्तन!

व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह, औ' तोपों का गर्जन,
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन।
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित!

सूत्रधार

तुम धन्य, वस्त्र व्यवसाय कला के सूत्रधार,
बर्बर जन के तन से हर वल्कल, चर्म भार,
तुमने आदिम मानव की हर नव द्वन्द्व लाज,
बन शीत ताप हित कवच, बचाया जन समाज।
तकली, चरखे, करघे से अब आधुनिक यंत्र,
तुम बने: यंत्र बल पर ही मानव लोक तंत्र
स्थापित करने को अब: मानवता का विकास
यंत्रों के संग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास।

जड़ नहीं यंत्र: वे भाव रूप: संस्कृति द्योतक:
वे विश्व शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक।
रेडियो, तार औ' फ़ोन,-वाष्प, जल, वायु यान,
मिट गया दिशावधि का जिनसे व्यवधान मान,-
धावित जिनमें दिशि दिशि का मन,-वार्ता, विचार,
संस्कृति, संगीत,-गगन में झंकृत निराकार।

जीवन सौन्दर्य प्रतीक यंत्र: जन के शिक्षक:
युग क्रांति प्रवर्तक औ' भावी के पथ दर्शक।
वे कृत्रिम, निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित,
मानव भी यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित।
दार्शनिक सत्य यह नहीं,-यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त: जीवन विकास की कृति निश्चित।

सांस्कृतिक हृदय

कृषि युग से वाहित मानव का सांस्कृतिक हृदय
जो गत समाज की रीति नीतियों का समुदय,
आचार विचारों में जो बहु देता परिचय,
उपजाता मन में सुख दुख, आशा, भय, संशय,
जो भले बुरे का ज्ञान हमें देता निश्चित
सामंत जगत में हुआ मनुज के वह निर्मित।

उन युग स्थितियों का आज दृश्य पट परिवर्तित,
प्रस्तर युग की सभ्यता हो रही अब अवसित।
जो अंतर जग था वाह्य जगत पर अवलंबित
वह बदल रहा युगपत युग स्थितियों से प्रेरित।
बहु जाति धर्म औ' नीति कर्म में पा विकास
गत सगुण आज लय होने को: औ' नव प्रकाश

नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।

(फ़रवरी' ४०)

40. भारत ग्रामसारा भारत है आज एक रे महा ग्राम!
हैं मानचित्र ग्रामों के, उसके प्रथित नगर
ग्रामीण हृदय में उसके शिक्षित संस्कृत नर,
जीवन पर जिनका दृष्टि कोण प्राकृत, बर्बर,
वे सामाजिक जन नहीं, व्यक्ति हैं अहंकाम।

है वही क्षुद्र चेतना, व्यक्तिगत राग द्वेष,
लघु स्वार्थ वही, अधिकार सत्व तृष्णा अशेष,
आदर्श, अंधविश्वास वही,-हो सभ्य वेश,
संचालित करते जीवन जन का क्षुधा काम।

वे परंपरा प्रेमी, परिवर्तन से विभीत,
ईश्वर परोक्ष से ग्रस्त, भाग्य के दास क्रीत,
कुल जाति कीर्ति प्रिय उन्हें, नहीं मनुजत्व प्रीत,
भव प्रगति मार्ग में उनके पूर्ण धरा विराम।

लौकिक से नहीं, अलौकिक से है उन्हें प्रीति,
वे पाप पुण्य संत्रस्त, कर्म गति पर प्रतीति
उपचेतन मन से पीड़ित, जीवन उन्हें ईति,
है स्वर्ग मुक्ति कामना, मर्त्य से नहीं काम।

आदिम मानव करता अब भी जन में निवास,
सामूहिक संज्ञा का जिसकी न हुआ विकास,
जन जीवी जन दारिद्रय दुःख के बने ग्रास,
परवशा यहाँ की चर्म सती ललना ललाम!

जन द्विपद: कर सके देश काल को नहीं विजित,
वे वाष्प वायु यानों से हुए नहीं विकसित,
वे वर्ग जीव, जिनसे जीवन साधन अधिकृत,
लालायित करते उन्हें वही धन, धरणि, धाम।

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत औ' वाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
सामूहिक मंगल हो समान: समदृष्टि राम!

– सुमित्रानंदन पंत

हिमालय और हम

गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।

इतनी ऊँची इसकी चोटी कि सकल धरती का ताज यही।
पर्वत-पहाड़ से भरी धरा पर केवल पर्वतराज यही।।
अंबर में सिर, पाताल चरण
मन इसका गंगा का बचपन
तन वरण-वरण मुख निरावरण
इसकी छाया में जो भी है, वह मस्तक नहीं झुकाता है।
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।।

अरूणोदय की पहली लाली इसको ही चूम निखर जाती।
फिर संध्या की अंतिम लाली इस पर ही झूम बिखर जाती।।
इन शिखरों की माया ऐसी
जैसे प्रभात, संध्या वैसी
अमरों को फिर चिंता कैसी ?
इस धरती का हर लाल खुशी से उदय-अस्त अपनाता है।
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।।

हर संध्या को इसकी छाया सागर-सी लंबी होती है।
हर सुबह वही फिर गंगा की चादर-सी लंबी होती है।।
इसकी छाया में रंग गहरा
है देश हरा, प्रदेश हरा
हर मौसम है, संदेश भरा
इसका पद-तल छूने वाला वेदों की गाथा गाता है।
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।।

जैसा यह अटल, अडिग-अविचल, वैसे ही हैं भारतवासी।
है अमर हिमालय धरती पर, तो भारतवासी अविनाशी।।
कोई क्या हमको ललकारे
हम कभी न हिंसा से हारे
दु:ख देकर हमको क्या मारे
गंगा का जल जो भी पी ले, वह दु:ख में भी मुसकाता है।
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।।

टकराते हैं इससे बादल, तो खुद पानी हो जाते हैं।
तूफ़ान चले आते हैं, तो ठोकर खाकर सो जाते हैं।
जब-जब जनता को विपदा दी
तब-तब निकले लाखों गाँधी
तलवारों-सी टूटी आँधी
इसकी छाया में तूफ़ान, चिरागों से शरमाता है।
गिरिराज, हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है।

– गोपाल सिंह नेपाली

हिंदी है भारत की बोली

दो वर्तमान का सत्य सरल,
सुंदर भविष्य के सपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

यह दुखड़ों का जंजाल नहीं,
लाखों मुखड़ों की भाषा है
थी अमर शहीदों की आशा,
अब जिंदों की अभिलाषा है
मेवा है इसकी सेवा में,
नयनों को कभी न झंपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

क्यों काट रहे पर पंछी के,
पहुंची न अभी यह गांवों तक
क्यों रखते हो सीमित इसको
तुम सदियों से प्रस्तावों तक
औरों की भिक्षा से पहले,
तुम इसे सहारे अपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

श्रृंगार न होगा भाषण से
सत्कार न होगा शासन से
यह सरस्वती है जनता की
पूजो, उतरो सिंहासन से
इसे शांति में खिलने दो
संघर्ष-काल में तपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

जो युग-युग में रह गए अड़े
मत उन्हीं अक्षरों को काटो
यह जंगली झाड़ न, भाषा है,
मत हाथ पांव इसके छांटो
अपनी झोली से कुछ न लुटे
औरों का इसमें खपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो आपने आप पनपने दो

इसमें मस्ती पंजाबी की,
गुजराती की है कथा मधुर
रसधार देववाणी की है,
मंजुल बंगला की व्यथा मधुर
साहित्य फलेगा फूलेगा
पहले पीड़ा से कंपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो आपने आप पनपने दो

नादान नहीं थे हरिश्चंद्र,
मतिराम नहीं थे बुद्धिहीन
जो कलम चला कर हिंदी में
रचना करते थे नित नवीन
इस भाषा में हर 'मीरा' को
मोहन की माल जपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

प्रतिभा हो तो कुछ सृष्टि करो
सदियों की बनी बिगाड़ो मत
कवि सूर बिहारी तुलसी का
यह बिरुवा नरम उखाड़ो मत
भंडार भरो, जनमन की
हर हलचल पुस्तक में छपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

मृदु भावों से हो हृदय भरा
तो गीत कलम से फूटेगा
जिसका घर सूना-सूना हो
वह अक्षर पर ही टूटेगा
अधिकार न छीनो मानस का
वाणी के लिए कलपने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

बढ़ने दो इसे सदा आगे
हिंदी जनमत की गंगा है
यह माध्यम उस स्वाधीन देश का
जिसकी ध्वजा तिरंगा है
हों कान पवित्र इसी सुर में
इसमें ही हृदय तड़पने दो
हिंदी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो

– गोपाल सिंह नेपाली

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता

....

....

....

....

पत्रिका भिजवाने का पता

....

....

....

....

विवरण	शुल्क			प्रतियों की सं.	रुपये/US$
गगनांचल	एक वर्ष	₹	500 (भारत)		
वर्ष		US$	100 (विदेश)		
	तीन वर्षीय	₹	1200 (भारत)		
		US$	250 (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय		10%		
	पुस्तक विक्रेता		25%		

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं. .... दिनांक ....

रु./US$ .... बैंक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूँ।

कृपया इस फॉर्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ
निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :
कार्यक्रम निदेशक (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली–110002, भारत
फोन नं. 011–23379309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप ....

नाम ....

पद ....

दिनांक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

प्रकाशन एवं मल्टीमीडिया कृति

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा गत 46 वर्षों से हिंदी पत्रिका गगनांचल का प्रकाशन किया जा रहा है, जिसका मुख्य उद्देश्य देश के साथ-साथ विदेशों में भी भारतीय साहित्य, कला, दर्शन तथा हिंदी का प्रचार-प्रसार करना है तथा इसका वितरण देश-विदेश में व्यापक स्तर पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त परिषद ने कला, दर्शन, कूटनीति, भाषा एवं साहित्य, विभिन्न विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों जैसे महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद, नेहरू व टैगोर की रचनाएँ परिषद की प्रकाशन योजना में गौरवशाली स्थान रखती हैं। प्रकाशन-योजना विशेष रूप से उन पुस्तकों पर केंद्रित है, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा पौराणिक कथाओं, संगीत, नृत्य और नाट्यकला से संबद्ध हैं।

परिषद द्वारा भारत में आयोजित अंतरराष्ट्रीय महोत्सवों के अंतर्गत सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा विदेशी सांस्कृतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों की वीडियो रिकॉर्डिंग तैयार की जाती है। इसके अतिरिक्त परिषद ने ध्वन्यांकित संगीत के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर दूरदर्शन के साथ मिलकर ऑडियो कैसेट एवं डिस्क की एक शृंखला का संयुक्त रूप से निर्माण किया है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्त्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान-शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद के लिए गौरव का विषय है। परिषद का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

अध्यक्ष	:	23378616, 23370698
महानिदेशक	:	23378103, 23370471
उप-महानिदेशक (प्रशासन)	:	23370784, 23379315
उप-महानिदेशक (संस्कृति)	:	23379249, 23370794
हिंदी अनुभाग	:	23370237, 23379309-10 एक्स. 2256/2272

पंजीयन संख्या, आर.एन/32381/78
ISSN-0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के प्रकाशन

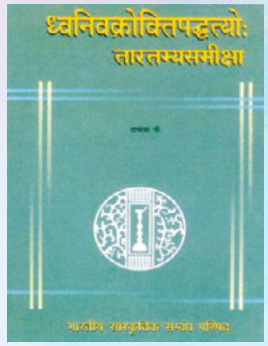

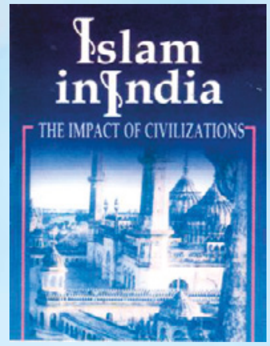

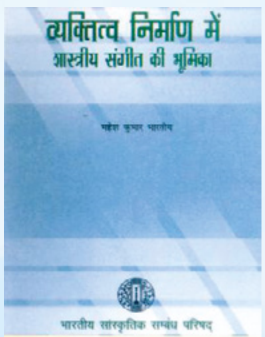

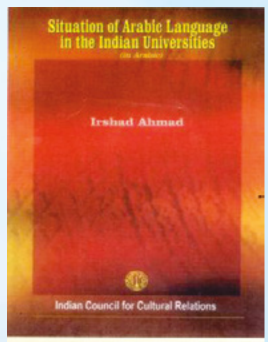

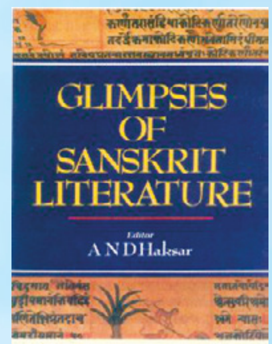

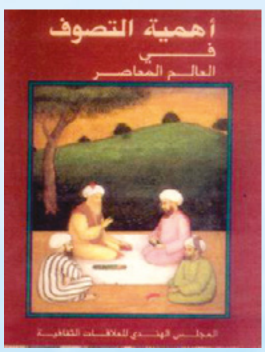

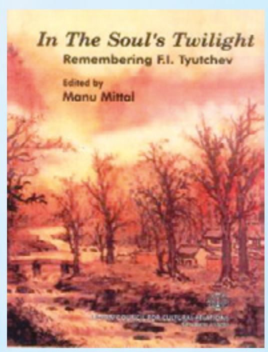

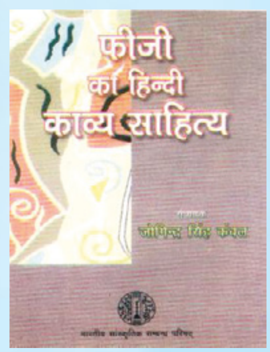

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
फोन : 91-11-23379309, 23379310
ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइट : www.iccr.gov.in

आवरण परिकल्पना : ममता गोयनका